विद्यार्थियों के लिए—

हिन्दी नाट्य-कला

Hindî Natya - Kalâ.

सम्पादक—

प्रो० वेदव्यास एम० ए० एल०एल० बी०

Vedvyas

प्रथम संस्करण सितम्बर १९३७ मूल्य २।) सजिल्द

प्रकाशक—
साहित्य भवन,
हस्पताल रोड, लाहौर

मुद्रक—
लाला रामभेजा कपूर
मालिक लाहौर आर्ट प्रेस
१६ अनारकली, लाहौर।

भूमिका

विशेषतः हिन्दी नाट्यकला और सामान्यतया सम्पूर्ण भारत-वर्ष की नाट्यकला से सम्बन्ध रखने वाले निबन्ध इस संग्रह में एकत्र किए गए हैं। वर्तमान हिन्दी साहित्य में नाटकों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। हिन्दी लेखकों में भी नाटकों की लोकप्रियता बढ़ रही है। पंजाब में हिन्दी साहित्य का यह अंग विशेष लोकप्रिय हो रहा है। इसका कुछ श्रेय स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल के अमर नाटकों के हिन्दी अनुवाद को है और कुछ श्रेय पंजाब यूनिवर्सिटी को। पंजाब यूनिवर्सिटी की हिन्दी परीक्षाओं में इस समय १२ नाटक नियुक्त हैं। इस बात ने नाटकों के महत्व को बहुत बढ़ा दिया है।

यह एक विस्मय की बात है कि नाटकों की इतनी लोकप्रियता के रहते भी हिन्दी में नाट्य-कला के सम्बन्ध की पुस्तकों का लगभग अभाव ही है। जहाँ संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं में नाट्यकला के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं, वहाँ हिन्दी में इस विषय की गिनी चुनी पुस्तकें ही प्राप्त होंगी। सम्भवतः यही कारण है कि पंजाब युनिवर्सिटी हिन्दी

नाटकों की इतनी उच्च शिक्षा देते हुए भी हिन्दी नाट्यकला जैसे आवश्यक और महत्वपूर्ण विषय को अभी तक हिन्दी परीक्षाओं की पाठविधि में स्थान नहीं दे सकी। इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए यह संग्रह तैयार किया गया है।

श्री श्यामसुन्दर दास और उनके शिष्य श्री पीताम्बरदत्त द्वारा विरचित रूपक-रहस्य, नाट्यकला के सम्बन्ध में निस्सन्देह एक बहुत उपयोगी पुस्तक है, परन्तु उसमें मुख्यतया संस्कृत नाटकों का ही वर्णन है। फिर वह पुस्तक कुछ है भी अधिक कठिन। नाटकों की समालोचना के सम्बन्ध में अनेक प्रमाणिक पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद हो चुका है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय का 'भवभूति और कालिदास' इन अनुवादों में प्रमुख है। परन्तु हिन्दी नाट्यकला के विकास के सम्बन्ध में अभी तक कोई अन्य प्रामाणिक पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई, यद्यपि इस विषय पर विभिन्न लेखों के रूप में काफी लिखा गया है।

इस पुस्तक में मैंने मुख्यतया हिन्दी नाट्यकला के सम्बन्ध में लिखे गए विभिन्न लेखों का ही संग्रह किया है। इन निबन्धों में मैंने आवश्यकतानुसार काँट छाँट की है, उन्हें संक्षिप्त तथा आसान बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनके भाव में परिवर्तन नहीं आने दिया। इन लेखों के लेखक अपने-अपने विषय के प्रामाणिक विद्वान हैं और हिन्दी जनता उन्हें भली प्रकार जानती है। कतिपय विषयों पर, जिन के सम्बन्ध में मुझे प्रामाणिक लेख नहीं मिले, मैंने स्वयं भी कुछ अध्याय लिखे हैं।

हिन्दी नाट्यकला पर स्वभावतः संस्कृत नाटकों का बहुत गहरा प्रभाव है। यह कहा जाता है कि हिन्दी नाट्यकला की इमारत ही संस्कृत नाट्यकला की नींव पर खड़ी हुई है। उसके बाद, विशेषतः बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी में हिन्दी नाट्यकला पर बंगाली नाटकों का बहुत भारी प्रभाव पड़ा। बंगाली नाट्यकला शेक्सपीयर की शैली से प्रभावित हुई है, अतः उसके द्वारा हिंदी नाट्यकला पर भी शेक्सपीयर की शैली का प्रभाव पड़ा। आज-कल हिन्दी नाट्यकला पर अर्वाचीन यूरोपियन, विशेषतः अँगरेज़ी नाट्यकला का प्रभाव पड़ रहा है। इस संग्रह में मैंने इन सब प्रभावों का वर्णन करने का प्रयत्न किया है।

'रूपक का विकास' शीर्षक अध्याय में भारत में नाट्यकला के विकास के सम्बन्ध में संक्षेप से लिखा गया है। बाबू श्यामसुन्दर दास तथा उनके शिष्य पं० पीताम्बर दत्त का यह लेख बहुत मनोरंजक ढंग से लिखा गया है। उस के बाद विश्वसाहित्य में नाटक तथा संस्कृत नाटक के सम्बन्ध में दो अध्याय दिए गए हैं।

बंगाली नाटकों का हिन्दी नाटकों पर जो प्रभाव पड़ा है, उस की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः श्री द्विजेन्द्रलाल राय तथा महाकवि रवीन्द्रनाथ जैसे विख्यात और प्रामाणिक लेखकों के नाटकों का संक्षिप्त वर्णन इस संग्रह में देना आवश्यक ही था।

प्राचीन हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध में श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

का एक लेख यहाँ दिया गया है। भारतेन्दु के नाटकों का संक्षिप्त वर्णन मिश्रबन्धु कृत हिन्दी नवरत्न से लिया गया है। भारतेन्दु की नाटक-रचना पर बाबू श्यामसुन्दर दास का लेख है। जैसा कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि स्वयं एक प्रतिभाशाली लेखक होते हुए भी बाबू हरिश्चन्द्र नाट्यकला के पण्डित नहीं थे। वर्तमान हिन्दी नाट्यकला के सम्बन्ध में दो लेख इस संग्रह में दिए गए हैं। एक तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार बाबू जयशंकर प्रसाद के सम्बन्ध में और दूसरा हिन्दी के अन्य नाटककारों के सम्बन्ध में। जयशंकर प्रसाद पर लिखे गये निबन्ध के लिये मैं अपने मित्र श्री उदयशंकर भट्ट का ऋणी हूँ।

प्रामाणिक समालोचना के बिना यह संग्रह अवश्य ही अधूरा रह जाता, इससे श्री रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा लिखित शकुन्तला की समालोचना मैंने इस संग्रह में दी है। यह समालोचना बहुत ही मनोरंजक और कवित्वपूर्ण ढंग से लिखी गई है। भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्री द्विजेन्द्रलाल राय का 'नाटक में कविता' शीर्षक लेख इस संग्रह में दिया गया है।

डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा लिखित 'हिन्दी और अनुवाद-नाटक' शीर्षक उपयोगी लेख उनके 'मोलियर' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की भूमिका में से लिया गया है। इस लेख में विदेशी नाटकों के अनुवाद के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण निर्देश दिए

हिन्दी नाट्य-कला

—०:०—

रूपक का विकास

(बाबू श्यामसुन्दरदास)

बीज—मनुष्य की प्रारंभिक शिक्षा का आधार अनुकरण है। यह अनुकरण मनुष्य की भाषा, उसके वेश और व्यवहार की शिक्षा के लिये अनिवार्य साधन है। यह साधन केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं वरन् अन्य जीवों के व्यवहार के लिये भी अपेक्षित है। इसी अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति, कुछ परिमार्जित और समुन्नत होकर, समाज के असामान्य व्यक्तियों के व्यापारों तक ही परिमित हो जाती है और उसका उद्देश्य किसी निर्दिष्ट आदर्श को स्थापित करना अथवा लोक-रंजन करना होता है। यहाँ असामान्य व्यक्तियों के व्यापारों से यह अर्थ नहीं है कि सामान्य लोगों के अनुकरण की उपेक्षा की गई है। इसका उद्देश्य केवल उन व्यक्तियों के व्यापारों से है, जिनसे नाट्य-प्रयोक्ताओं का अर्थ सिद्ध हो। मानव-जीवन के सभी व्यापार इसके अंतर्गत आ जाते हैं। इस

अवस्था को प्राप्त होकर अनुकरण एक निर्दिष्ट रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार के प्रौढ़ अनुकरण अथवा नाट्य का कलात्मक विकास होकर नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। दृश्य-काव्य के द्वारा ही नाट्य की अभिव्यक्ति होती है।

दृश्य-काव्य—काव्य दो प्रकार के होते हैं—एक दृश्य, दूसरा श्रव्य। दृश्य काव्य वह काव्य है जो देखा जा सके, जिसमें नाट्य की प्रधानता हो, जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो और जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्य-काव्य को संस्कृत आचार्यों ने 'रूपक' नाम दिया है। रूपक में अभिनय करनेवाला किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव-भाव करता और बोलता है। इस प्रकार एक व्यक्ति या उसके रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति में होता है, इसलिये ऐसे काव्य को 'रूपक' नाम दिया गया है। मान लीजिये कि इस प्रकार के किसी काव्य में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत के संबंध में रूपक प्रदर्शित किया जाता है, तो जो अभिनेता राम, कृष्ण, युधिष्ठिर का रूप धारण करेगा वह वैसा ही आचरण करेगा जैसा राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत ने उस अवस्था में किया होगा। उसकी वेश-भूषा, बोलचाल आदि भी उसी प्रकार की होगी, अर्थात् वह भिन्न व्यक्ति होने पर भी दर्शकों के सामने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत बनकर आवेगा और दर्शकों को इस प्रकार का भास कराने का उद्योग करेगा कि मैं वास्तव में वही हूँ जिसका रूप मैंने धारण किया है। इसी लिये रूपक ऐसे प्रदर्शन को कहेंगे

जिसमें अभिनय करनेवाला किसी के रूप, हाव-भाव, वेश-भूषा, बोलचाल आदि का ऐसा अच्छा अनुकरण करे कि उसका और वास्तविक व्यक्ति का भेद प्रत्यक्ष न हो सके। अब इस अर्थ में साधारणतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत की 'नट' धातु से बना है जिसका अर्थ सात्विक भावों का प्रदर्शन है। भिन्न भिन्न देशों में इस कला का विकास भिन्न-भिन्न रूपों और समयों में हुआ है। परंतु एक बात जो सभी नाटकों में समान रूप से पाई जाती है वह यह है कि सभी नाटकों में पात्र नाट्य के द्वारा किसी न किसी व्यक्ति के व्यापारों का अनुकरण या उनकी नकल करते हैं।

उत्पत्ति—मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा जीव है जो सदा यह चाहता है कि मैं अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने अंतःकरण में छिपा रखने में असमर्थ है। उसे बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए चैन नहीं मिलता। अतएव अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा मानव-प्रवृत्ति का एक अनिवार्य गुण है। मनुष्य अपने भावों और विचारों को इंगितों या वाणी द्वारा अथवा दोनों की सहायता से प्रकट करता है। भावों और विचारों को अभिव्यंजित करने की ये रीतियाँ वह मानव-समाज में मिलकर सीख लेता है। किसी उत्सव के समय वह इन्हीं भावों को नाच-गाकर प्रकट करता है। वाणी और इंगित के अतिरिक्त भावों और विचारों के अभिव्यंजन का एक तीसरा प्रकार अनुकरण या नकल है। बाल्यावस्था से ही

मनुष्य नकल करना सीखता है और उसमें सफल होने पर उसे आनन्द मिलता है। यह नकल भी वाणी और इंगित द्वारा सब मनुष्यों को सुगमता से साध्य है। इसके अनंतर वेश-भूषा की नकल का अवसर आता है, और यह भी कष्टसाध्य नहीं है। इन साधनों के उपलब्ध हो जाने पर क्रमशः दूसरे व्यक्ति के स्थानापन्न बनने की चेष्टा एक साधारण सी बात है। पर इतने ही से नाटक का सूत्रपात नहीं हो जाता। जब तक नकल करने की प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण नहीं करती, तब तक रूपक का आविर्भाव नहीं होता, पर ज्यों ही नकल करने की यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करती है त्यों ही मानो रूपक का बीजारोपण होता है। बस यही नाट्यकला का आरंभ है।

किसी का अनुकरण या नकल करने से रूपक की उत्पत्ति या सृष्टि तो अवश्य हो जाती है, पर इतने से ही उसकी कर्त्तव्यता का अंत नहीं हो सकता। रूपक आगे चलकर साहित्य के अनुशासन या नियंत्रण में आ जाता है और तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। उस दशा में हम उसे नाट्य-साहित्य के अंतर्गत स्थान दे देते हैं। पर यह नाट्य-साहित्य सभी जातियों अथवा देशों में नहीं पाया जाता। ऐसी जातियाँ भी हैं जिनमें रूपकों का प्रचार तो यथेष्ट है, पर जिनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है। अनेक असभ्य जातियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी न किसी रूप में रूपक तो वर्त्तमान है, पर जिन्होंने अपने साहित्य का विकास नहीं किया। जिन जातियों ने नाट्य को शास्त्रीय अथवा साहित्यिक रूप दिया है, उनकी तो कोई बात ही नहीं, पर जिन जातियों के रूपकों को साहित्यिक रूप नहीं

प्राप्त हुआ है, उन जातियों ने भी रूपक के संगीत, नृत्य, भाव-भंगी, वेश-भूषा आदि भिन्न-भिन्न आवश्यक और उपयोगी अंगों में रुचि या आवश्यकता आदि के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्त्तन और परिवर्धन करके उनके अनेक भेदों और उपभेदों की सृष्टि कर डाली है। परंतु रूपक वास्तव में उसी समय साहित्य के अंतर्गत आ जाता है जब उसमें किसी के अनुकरण या नकल के साथ ही साथ कथोपकथन या वार्त्तालाप भी हो जाता है। रूपक में संगीत या वेश-भूषा आदि का स्थान इसके पीछे आता है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रूपक की सृष्टि संगीत और नृत्य के कारण तथा इन्हीं दोनों से हुई है।

नाटकों का आरम्भ—रूपक की सृष्टि संगीत और नृत्य से तो अवश्य हुई है, पर उसके विकास के मुख्य साधन महाकाव्य और गीति-काव्य हैं। इस विषय पर विचार करने से पहले हम संक्षेप में यह बतला देना चाहते हैं कि रूपक का आरंभ कैसे अवसरों पर और किन किन उद्देश्यों से हुआ था। प्राचीन काल में मानव-समाज अपने विकास की अत्यंत आरंभिक अवस्था में था। लोग ऋतुओं आदि के परिवर्तन को देखकर मन ही मन बहुत भयभीत होते थे और उनके परिणाम तथा प्रभाव से बचने के लिये देवताओं के उद्देश्य से अनेक प्रकार के उत्सव करके नाचते गाते थे। जिस समय भीषण वर्षा होती थी अथवा कड़ाके का जाड़ा पड़ता था उस समय उनके प्राण बड़े संकट में पड़ जाते थे और वे उस संकट से बचने के लिये अपने-अपने देवताओं का आराधन करते थे। बस

यहीं से रूपक के मूल गीतों और गीति-काव्यों का आरंभ हुआ, जिसने आगे चलकर रूपक की सृष्टि और उसका विकास किया। जब इस प्रकार बहुत दिनों तक आराधना करने और नाचने-गाने पर भी वे उन ऋतुओं तथा दूसरी नैसर्गिक घटनाओं में किसी प्रकार की बाधा न डाल सके, तब उन्होंने स्वभावतः समझ लिया कि इन सब बातों का सम्बन्ध किसी और गूढ़ कारण अथवा किसी और बड़ी शक्ति के साथ है। वही शक्ति किसी निश्चित नियम के अनुसार ऋतुओं आदि में परिवर्तन करती तथा दूसरी घटनाएँ संघटित करती है। तब उन लोगों ने अपने नृत्य, गीत आदि का उद्देश्य बदल दिया और वे अपने बाल-बच्चों की प्राण-रक्षा या धन-धान्य आदि की वृद्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव करने लगे। पर इन धार्मिक उत्सवों में भी नृत्य गीत आदि की ही प्रधानता रहती थी। यही कारण है कि संसार की प्रायः सब प्राचीन जातियों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के उत्सव आदि प्रचलित थे। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायनतुला के समय एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ करता था, जिसकी मुख्य पात्री डेमिटर देवी की पुजारिन हुआ करती थी। इसी प्रकार चीन के मन्दिरों में भी फसल हो जाने के अनन्तर धार्मिक उत्सव हुआ करते थे जिन में अच्छी फसल होने के उपलक्ष में देवताओं का गुणानुवाद होता था और साथ ही रूपक आदि भी होते थे। जिस देवता के मन्दिर में उत्सव हुआ करता था, प्रायः उसी देवता के जीवन की घटनाओं को लेकर रूपक भी खेले जाते थे। भिन्न-भिन्न स्थानों के देवता भिन्न-भिन्न

होते थे। उन देवताओं में से कुछ तो कल्पित होते थे और कुछ ऐसे वीर-पूर्वज होते थे, जिनमें किसी देवता की कल्पना कर ली जाती थी। ऐसी दशा में उन देवताओं के जीवन में से रूपक की यथेष्ट सामग्री निकल आती थी। इसी प्रकार के उत्सव और रूपक बरमा और जापान आदि में भी हुआ करते थे। फसल हो चुकने पर तो ऐसे उत्सव और रूपक होते ही थे, पर कहीं कहीं फसल बोने के समय भी इसी प्रकार के उत्सव और रूपक हुआ करते थे। इन उत्सवों पर देवताओं से इस बात की प्रार्थना की जाती थी कि खेतों में यथेष्ट धन-धान्य उत्पन्न हो। भारत में तो अब तक फसलों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के पूजन और उत्सव आदि प्रचलित हैं, जिनमें से होली का त्योहार मुख्य है। यह त्योहार गेहूँ आदि की फसल हो जाने पर होता है और उसी से सम्बन्ध रखता है। अब भी होली के अवसर पर इस देश में नृत्य, गीत आदि के साथ साथ स्वाँग निकलते हैं, जो वास्तव में रूपक के पूर्व रूप ही हैं। यद्यपि आजकल यह उत्सव अश्लीलता के संयोग से बिलकुल भ्रष्ट हो गया है, पर इससे हमारे कथन की पुष्टि में कोई बाधा नहीं पड़ती।

वीर-पूजा—प्राचीन काल में जिस प्रकार धन-धान्य आदि के लिये देवताओं का पूजन होता था, उसी प्रकार पूर्वजों और बड़े-बड़े ऐतिहासिक पुरुषों का भी पूजन होता था। उन पूर्वजों और ऐतिहासिक पुरुषों के सम्बन्ध में बड़े-बड़े उत्सव भी होते थे, जिनमें इन उत्सवों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये उनसे प्रार्थना की जाती थी, अथवा

उसी उद्देश्य से उनका गुणानुवाद किया जाता था ; और जब नया धान्य तैयार हो जाता था तब अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये, उनको उसका भोग लगाया जाता था। और और देशों में तो पूर्वजों की केवल मूर्त्तियाँ बनाकर ही मन्दिरों में स्थापित कर दी जाती थीं, पर मिस्र और पेरू में स्वयं मृत शरीर ही रक्षित किए जाते थे। प्राय: उन्हीं पूर्वजों का पूजन करके लोग उनके जीवन की घटनाओं का नाट्य किया करते थे और इस प्रकार मनोविनोद के साथ ही साथ उनकी स्मृति भी बनाए रखते थे। बहुधा ऐसे उत्सव बड़े-बड़े [illegible] और योद्धाओं के ही उपलक्ष तथा सम्बन्ध में हुआ करते थे। यह वीर-पूजा सभी प्राचीन जातियों में प्रचलित थी और अब भी अनेक जातियों में प्रचलित है। हमारे देश में यह कृष्णलीला और रामलीला आदि के रूप में वर्तमान है। ये लीलाएँ साधारण स्वाँगों का परिवर्तित और विकसित रूप हैं और इनमें भी रूपकों की सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है।

संसार की भिन्न भिन्न जातियों के नाट्य-साहित्य का प्राचीन इतिहास भी यही बतलाता है कि नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति वास्तव में नृत्य से, और उसके साथ ही साथ संगीत से भी हुई है। मनुष्य जब बहुत प्रसन्न होता है तब नाचने और गाने लगता है। जब हम किसी की अत्यंत अधिक प्रसन्नता का परिचय कराना चाहते हैं, तब हम कहते हैं कि 'वह मारे खुशी के नाच उठा'। दूसरों के आदर-सत्कार और प्रसन्नता के लिये भी उसके सामने नाचने और गाने की प्रथा बहुत पुरानी है। हमारे यहाँ पार्वती के सामने शिव का और ब्रज की गोपियों के साथ कृष्ण का नृत्य

बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हजरत दाऊद भी ईसा मसीह के सामने नाचे थे। किसी माननीय और प्रतिष्ठित अभ्यागत के आदर के लिये नृत्य-गीत का आयोजन करने की प्रथा अब तक सभ्य और असभ्य सभी जातियों में प्रचलित है। प्राचीन काल में जब योद्धा लोग विजय प्राप्त करके लौटते थे, तब वे स्वयं भी नाचते-गाते थे और उनका सत्कार करने के लिये नगर-निवासी भी उनके सामने आकर नाचते-गाते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि युद्ध-क्षेत्र में वीर और योद्धा लोग जो कृत्य करके आते थे उन कृत्यों का नाट्य भी नृत्य गीत के उन उत्सवों के समय हुआ करता था। मृतकों और विशेषतः वीर मृतकों, के उद्देश्य से नाचने की प्रथा बरमा, चीन, जापान आदि अनेक देशों में प्रचलित थी। जो योद्धा देश, जाति अथवा धर्म के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहकर प्राण देते थे, उनकी स्मृति बनाये रखने का उन दिनों यही एक साधन माना जाता था। उक्त देशों के नाटकों का आरम्भ इन्हीं नृत्यों से हुआ है ; क्योंकि उन देशों के निवासी उस नृत्य के समय भाँति भाँति के चेहरे लगाकर स्वाँग बनाते थे और उन वीर मृतकों के वीरतापूर्ण कृत्यों का नाट्य करते थे। उन नृत्यों में कहीं कहीं, जैसे जापान और जावा आदि देशों में, कुछ कथोपकथन भी होते थे, जिनसे उनको एक प्रकार से रूपक का रूप प्राप्त हो जाता था। जापान में तो आज तक इस प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। आजकल भी जापान में जो नृत्य होता है वह किसी न किसी ऐतिहासिक घटना अथवा कथानक से अवश्य सम्बन्ध रखता है। ऐसे नृत्य प्रायः बड़े बड़े देवमन्दिरों में हुआ

करते हैं, जिनमें उन मन्दिरों के पुजारी भी सम्मिलित होकर अभिनय करते हैं। अभिनय के समय पात्र चेहरे लगाकर स्वाँग भी बनाया करते हैं। तात्पर्य यह कि जापान तथा दूसरे अनेक देशों के रूपकों की सृष्टि इसी प्रकार के नृत्यों से हुई है। जापानी भाषा में ऐसे रूपकों को 'नो' कहते हैं जिसका अर्थ है कल्याणपूर्ण नाटक। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलिविया और ब्रेजील आदि देशों में भी अब तक इस प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनमें पात्र चेहरे लगाकर मृत पुरुषों का नाट्य करते हैं। उनके कथोपकथन भी उन्हीं मृत आत्माओं की जीवन-संबन्धी घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। एलास्का प्रदेश के जंगली एस्किमो भी प्रति वर्ष इसी प्रकार के नृत्य और रूपक करते हैं, जिनमें पात्रों को पशुओं आदि के चेहरे लगाने पड़ते हैं। ये नृत्य इस उद्देश्य से होते हैं कि मृतकों की आत्माएँ प्रसन्न हों और लोगों को वर्ष भर खूब शिकार मिला करे। पश्चिमी अफ्रीका के बेल्जियन कांगो आदि कुछ प्रदेशों की जंगली जातियों में तो इस प्रकार के नृत्य और रूपक इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनके धर्माचार्यों का व्यवसाय नाट्य ही रह गया है। नृत्य ही नाटक का मूल है, इस बात का एक अच्छा प्रमाण कंबोडिया की राजकीय रंगशाला भी है, जिसका नाम 'रंगरम' है। उस देश की भाषा में इस शब्द का अर्थ नृत्य-शाला होता है। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी बतला देना चाहते हैं कि कंबोडिया की रंगशालाओं में रामायण का भी नाटक होता है। कंबोडिया में रामायण का बहुत अधिक आदर है। वहाँ के अन्यान्य नाटकों में नो अभिनय और

नाचने-गाने का सारा काम स्त्रियाँ ही करती हैं, पर रामायण के नाटक में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं; उसमें कोई स्त्री नहीं सम्मिलित होने पाती।

भारतीय नाट्य-साहित्य की सृष्टि—यह तो हुई नाट्य की ठेठ उत्पत्ति और विकास की बात। अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों में उनके नाट्य-साहित्य की सृष्टि कब और कैसे हुई। यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है कि नाट्य की उत्पत्ति गीति-काव्यों और कथोपकथन से हुई। अब यदि हमें यह ज्ञात हो जाय कि इन गीति-काव्यों और कथोपकथनों का आरम्भ सबसे पहले किस देश में हुआ, तो हमें अनायास ही प्रमाण मिल जायगा कि संसार के किस देश में सब से पहले नाट्य-कला की सृष्टि हुई। इस दृष्टि से देखते हुए केवल हमें ही नहीं वरन् संसार के अनेक बड़े बड़े विद्वानों को भी विवश होकर यही मानना पड़ता है कि जहाँ भारतवर्ष और अनेक बातों में आविष्कर्त्ता और पथ-प्रदर्शक था, वहाँ रूपकों, गीति-काव्यों और कथोपकथन संबन्धी साहित्य उत्पन्न करने में भी वह प्रथम और अग्रगामी था। भारतीयों का परंपरानुगत विश्वास है कि ब्रह्मा ने वेदों से सार लेकर नाटक की सृष्टि की थी। वास्तविक बात यह है कि नाटक के मूल-तत्व, जो समय पाकर नाटक के रूप में विकसित हो जाते हैं, वेदों में स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं। हमारे वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य हैं। उनमें भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन ऋग्वेद है।

सारा ऋग्वेद ऐसे मंत्रों से भरा पड़ा है जिनमें इन्द्र, सूर्य, अग्नि, उषस्, मरुत् आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है। इन प्रार्थना-मंत्रों की गणना साहित्य की दृष्टि से गीति-काव्यों में की जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियों और राजाओं के यशोगान भी हैं जो महा-काव्यों के मूल हैं और जिनमें महाकाव्यों की सामग्री भरी है। साथ ही ऋग्वेद में सरमा और पणिस, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि के गीतों में कुछ कथोपकथन या सम्वाद भी हैं। इस प्रकार रूपक के तीनों मूल अर्थात् गीति-काव्य, आख्यान और कथोपकथन या संवाद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में वर्तमान हैं। इसी आधार पर मेकडानल और कीथ आदि विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि संसार में सबसे पहले रूपकों का आरम्भ भारतवर्ष में ही हुआ। मैक्समूलर, पिशल, लेवी आदि का भी यही मत है। पर रिजवे ने नाटकों और नाटकीय नृत्यों के संबन्ध में जो पुस्तक लिखी है, उसमें उसने इस मत का केवल इसी आधार पर खण्डन किया है कि नृत्य, गीत और सम्वाद के रहते हुए भी जब तक किसी के कृत्यों का नाट्य या उनकी नकल न हो, तब तक यथार्थ रूपक की सृष्टि नहीं होती। रिजवे का यह कथन युक्तियुक्त है, पर उसने केवल पक्षपातवश ही यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि जो लोग स्वयं उसी के कथनानुसार नृत्य और गीत आदि के बड़े प्रेमी और प्रधान आविष्कर्त्ता थे और जिन्होंने कथोपकथन या संवाद तक को अपने साहित्य में स्थान दिया था

वे केवल नाट्य को किस प्रकार छोड़ सकते थे। जहाँ तक सम्भव था, वहाँ तक खींच-तान करके रिजवे ने अपनी ओर से यह सिद्ध करना चाहा कि भारत में रूपकों की सृष्टि बहुत पीछे हुई। पर फिर भी उसने भारतीय नाटकों की सृष्टि का कोई समय निर्धारित नहीं किया है ; और अन्त में एक प्रकार से यह बात भी मान ली है कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक भारत में रूपकों का यथेष्ट विकास हो चुका था। अब विचारवान् पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं कि नाट्य सरीखे गूढ़ और गहन विषय का पूर्ण विकास होने में, सो भी पाणिनि-काल से पहले, कितना समय लगा होगा और जिस नाटक का पाणिनि के समय में पूर्ण विकास हो चुका था, भारत में उसका आरम्भ या बीजारोपण कितने दिनों पहले हुआ होगा। स्वयं रिजवे ने ही अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भारत की अनेक बातों के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण नहीं मिलते। ऐसी दशा में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों, सम्वादों और आख्यानों तथा दूसरे अनेक प्रमाणों से, जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, यह माना जा सकता है कि भारत में नाटक का सूत्रपात ऋग्वेद-काल के कुछ ही पीछे, पर लगभग वैदिक-काल में ही हो गया था।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतवर्ष के रूपकों का सर्वथा पूर्व और प्रारम्भिक रूप ऋग्वेद में प्रार्थना-मंत्रों और सम्वादों के रूप में मिलता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में नाट्य ने अपना पूर्ण रूप किस समय धारण किया। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि पाणिनि से कई सहस्र वर्ष पहले

इस देश में रूपकों का बहुत अधिक प्रचार हो चुका था और अच्छे-अच्छे नाटक भी बन चुके थे ; क्योंकि पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व इन दो आचार्यों के नाम दिये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इस देश में नाट्य-कला इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी कि उसके लक्षण-ग्रन्थ तक बन चुके थे । नाट्य-कला की सर्वथा आदिम अवस्था में अन्यान्य देशों की भाँति इस देश के नट भी केवल नाचते और गाते ही रहे होंगे, परन्तु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाटक अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच चुके थे ; अर्थात् उस समय तक इस देश में नाचने और गाने के अतिरिक्त नाटकों में सम्वाद, भाव-भंगी और वेश-भूषा आदि का भी पूर्ण रूप से समावेश हो चुका था सर्वाङ्गपूर्ण रूपक होने लग गए थे। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पतंजलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंगशालाओं में नाटक होते थे और दर्शक लोग उन्हें देखने के लिए जाया करते थे। उन दिनों कंस-वध और बलि-बंध आदि तक के नाटक होने लग गए थे। इससे सिद्ध होता है कि (ईसा से सैकड़ों हजारों वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही दिनों पीछे का बना है। उसमें लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौवेररंभाभिसार नाटक खेला गया था, जिसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखाया गया था। महावीर स्वामी के लगभग दो सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामी हुए थे, जिन्होंने कल्पसूत्र के अपने विवेचन में

जड़वृत्ति साधुओं का उल्लेख करते हुए एक साधु की कथा दी है। एक बार एक साधु कहीं से बहुत देर करके आया। गुरु के पूछने पर उसने कहा कि मार्ग में नटों का नाटक हो रहा था; वही देखने के लिये मैं ठहर गया था। गुरु ने कहा कि साधुओं को नटों के नाटक आदि नहीं देखने चाहिएँ। कुछ दिनों पीछे उस साधु को एक बार फिर अपने आश्रम को आने में विलंब हो गया। इस बार गुरु के पूछने पर उसने कहा कि एक स्थान पर नटियों का नाटक हो रहा था, मैं वही देखने लग गया था। गुरु ने कहा कि तुम बड़े जड़बुद्धि हो। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि जिसे नटों का नाटक देखने के लिये निषेध किया जाय, उसके लिये नटियों का नाटक देखना भी निषिद्ध है। इन सब बातों के उल्लेख से हमारा यही तात्पर्य है कि आज से लगभग ढाई-तीन हज़ार वर्ष पहले भी इस देश में ऐसे ऐसे नाटक होते थे, जिन्हें सर्वसाधारण बहुत सहज में और प्रायः देखा करते थे। कौबेररंभाभिसार सरीखे नाटकों का अभिनय करना जिनमें कैलास के दृश्य दिखाए जाते हों और ऐसी रंगशालाएँ बनाना जिनमें राजा रथ पर आते और आकाश-मार्ग से जाते हों (दे० विक्रमोर्वशीय) सहज नहीं है। नाट्य-कला की उन्नति की इस सीमा तक पहुँचने में सैकड़ों हज़ारों वर्ष लगे होंगे। कौबेररंभाभिसार के संबंध में हरिवंश पुराण में लिखा है कि उसमें प्रद्युम्न ने नल-कूबर का, शूर ने रावण का, सांब ने विदूषक का, गद ने परिपार्श्व का और मनोवती ने रंभा का रूप धारण किया था और सारे नाटक का अभिनय इतनी उत्तमता के साथ किया गया था कि उसे देखकर वज्रनाभ आदि दानव बहुत ही प्रसन्न हुए

थे। यदि इस कथा को सर्वथा सत्य मान लिया जाय, तो यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के समय में भी भारत में अच्छे-अच्छे नाटकों का अभिनय होता था।

भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनका नाट्य-शास्त्र-सम्बंधी श्लोकबद्ध ग्रंथ इस समय हमें उपलब्ध है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ में शिलालिन् और कृशाश्व का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उस ग्रन्थ से इतना अवश्य सूचित होता है कि उनसे भी पहले नाट्य-शास्त्र-सम्बंधी अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भरत ने अपने ग्रन्थ को जितना सर्वांगपूर्ण बनाया है और उसमें जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि भरत से पहले इस देश में अनेक रूपक लिखे जा चुके थे और साथ ही नाट्य-शास्त्र के कुछ लक्षण-ग्रन्थ भी बन चुके थे। भरत ने उन्हीं नाटकों और लक्षण-ग्रन्थों का भली भाँति अध्ययन करके और उनके गुण-दोष का विवेचन करके अपना ग्रन्थ बनाया था। भरत ने नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य के विषय, उसके उद्देश्य और उसकी सामाजिक उपयोगिता का विशद विवेचन किया है। वे लिखते हैं—

"इस संपूर्ण संसार (त्रिलोक) के भावों (अवस्थाओं) का अनुकीर्त्तन ही नाट्य है; १—७२।"

"अनेक भावों से युक्त, अनेक अवस्थाओं से परिपूर्ण तथा संसार के चरित्रों के अनुकरणवाला यह नाट्य मैंने उत्पन्न किया है, १—७८।"

"यह उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों के कृत्यों का समुदाय

है, हितकारी उपदेशों को देनेवाला है और धैर्य, क्रीड़ा और सुख आदि उत्पन्न करने वाला है, १—७६।"

"दुःखित, असमर्थ, शोकार्त्त तथा तपस्वियों को भी समय पर शांति प्रदान करने वाला यह नाट्य मैंने बनाया है, १—८०।"

"यह नाट्य धर्म, यश, आयु की वृद्धि करने वाला, लाभ करने वाला, बुद्धि बढ़ाने वाला और संसार को उपदेश देने वाला होगा; १—८१।"

"न कोई ऐसा वेद है, न शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न योग है, न कर्म है जो इस नाट्य में नहीं दिखाया जा सकता; १—८२"।

"यह नाट्य वेद, विद्या, इतिहास तथा अर्थशास्त्र का स्मरण करानेवाला तथा संसार में विनोद करनेवाला होगा; १—८६"।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य का आदर्श केवल जनता की चित्तवृत्ति को आनंदित करना तथा उनकी इंद्रिय-लिप्सा को उत्तेजित करना नहीं वरन् धर्म, आयु और यश की वृद्धि करना है। भारतीय नाट्य-शास्त्र तथा नाट्य-साहित्य की यही विशेषता है।

कठपुतली का नाच—अब हम रूपकों के सम्बन्ध में एक और बात का विवेचन करना चाहते हैं जिससे रूपकों की प्राचीनता और उनके आरंभिक रूप पर विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है। पाठकों में से बहुतों ने कठपुतली का नाच देखा होगा। संस्कृत में कठपुतली के लिये पुत्रिका, पुत्तली और पुत्तलिका

आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिनका अर्थ होता है—छोटी बालिका। लैटिन भाषा में कठपुतली के लिये 'प्यूपा' अथवा 'प्यूपुल' आदि जो शब्द हैं, उनका भी यही अर्थ है। यह कठपुतली का नाच हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। प्राचीन भारत में ऊन, काठ, सींग और हाथी-दाँत आदि की बहुत अच्छी पुतलियाँ बनती थीं। कहते हैं पार्वतीजी ने एक बहुत सुन्दर पुतली बनाई थी। उस पुतली को वे शिवजी से छिपाना चाहती थीं, इसलिये उन्होंने उसे मलय पर्वत पर ले जाकर रखा था। पर उसे देखने और उसका शृंगार करने के लिये वे नित्य मलय पर्वत पर जाती थीं, जिससे शिवजी को कुछ सन्देह हुआ। एक दिन शिवजी भी छिपकर पार्वती के पीछे-पीछे मलय पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पार्वती जी की वह पुतली देखी। वह पुतली सजीव न होने पर भी सर्वथा सजीव जान पड़ती थी। अतः शिवजी ने प्रसन्न होकर उस पुतली को सजीव कर दिया था। महाभारत में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। जिस समय अर्जुन कौरवों से युद्ध करने के लिये जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने उनसे कहा था कि मेरे लिये अच्छी-अच्छी पुतलियाँ या गुड़ियाँ लेते आना। कथा-सरित्सागर में; एक स्थान पर, लिखा है कि असुर मय की कन्या सोमप्रभा ने अपने पिता की बनाई हुई बहुत सी कठपुतलियाँ रानी कलिंगसेना को दी थीं। उनमें से एक कठपुतली ऐसी थी जो खूँटी दबाते ही हवा में उड़ने लगती थी और कुछ दूर पर रखी हुई छोटी-मोटी चीजें तक उठा लाती थी। उनमें से एक पुतली पानी भरती थी, एक नाचती थी और एक बातचीत करती थी। उन

पुतलियों को देखकर कलिंगसेना इतनी मोहित हो गई थी कि वह दिन-रात उन्हीं के साथ खेला करती थी और खाना-पीना तक छोड़ बैठी थी। यह तो सभी लोग जानते हैं कि कथा-सरित्सागर का मूल गुणाढ्य-कृत वड्डकहा (बृहत्कथा) है, जो बहुत प्राचीन काल में पैशाची भाषा में लिखी गई थी ; पर यह बृहत्कथा अब कहीं नहीं मिलती। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यही है कि गुणाढ्य के समय में भी भारत में ऐसी अच्छी-अच्छी कठपुतलियाँ बनती थीं जो अनेक प्रकार के कठिन कार्य करने के अतिरिक्त मनुष्यों की भाँति बातचीत तक करती थीं। ये कठपुतलियाँ कोरी कवि-कल्पना कदापि नहीं हो सकतीं। कथाकोष में लिखा है कि राजा सुन्दर ने अपने पुत्र अमरचन्द्र के विवाह में कठपुतलियों का नाच कराया था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल में ही भारत में कठपुतलियों का नाच बहुत उन्नत दशा को पहुँच चुका था। राजशेखर ने दसवीं शताब्दी के आरम्भ में जो बाल-रामायण नाटक लिखा था, उसके पाँचवें अंक में कठपुतलियों का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि असुर मय के प्रधान शिष्य विशारद ने दो कठपुतलियाँ बनाई थीं, जिनमें से एक सीता की और दूसरी सिंदूरिका की प्रतिकृति थी। ये दोनों कठपुतलियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ बहुत अच्छी तरह बोल सकती थीं। इन दोनों का पारस्परिक वार्त्तालाप इतना स्पष्ट और सुन्दर था कि रावण ने इन कठपुतलियों को ही सीता और सिंदूरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल उस समय ज्ञात हुई, जब उसने सीता की प्रतिकृति को गले से लगाया।

राजशेखर के इस उल्लेख से कम से कम इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि दसवीं शताब्दी में भारत की रंगशालाओं में साधारण रूपक के अतिरिक्त कठपुतलियों तक का प्रवेश कराया जाता था।

सूत्रधार और स्थापक—संस्कृत के सभी और हिन्दी के भी प्राय: अनेक नाटकों में पहले सूत्रधार का प्रवेश होता है। यह सूत्रधार मानो रंगशाला का व्यवस्थापक और स्वामी होता है। यह सब से पहले रंगशाला में आकर कोई प्रार्थना गीत गाता है और तब किसी न किसी रूप में दर्शकों को नाटक के नाम, कर्त्ता और विषय आदि का परिचय कराता है। यह नाटक का एक प्रकार का परिचय और प्राक्कथन होता है। प्राचीन काल में यह परिचय बहुत बड़ा होता था; पर ज्यों ज्यों नाट्यकला में उन्नति होती गई और रूपक की प्रधानता होती गई त्यों-त्यों सूत्रधार का यह परिचय बहुत कम होता गया। प्राचीन नाटकों में सूत्रधार के उपरांत रंगमंच पर एक और व्यक्ति का प्रवेश होता था जो सर्वथा सूत्रधार के ही वेश में रहता था। ऐसे नाटकों में सूत्रधार केवल मंगलाचरण करके और कुछ गीत गाकर ही चला जाता था, और नाटक के नाम कर्त्ता तथा विषय आदि का परिचय यह स्थापक दिया करता था। धीरे-धीरे नाटक से इस स्थापक का लोप हो गया और उसका काम भी केवल सूत्रधार ही करने लग गया। नाटकों के ये सूत्रधार और स्थापक शब्द भी हमारे नाटकों की प्राचीनता और उत्पत्ति से बहुत कुछ सम्बन्ध रखते

हैं। जान पड़ता है कि भारतवर्ष में सबसे पहले कठपुतलियों का नाच आरम्भ हुआ था। उन पुतलियों को रंगमंच पर यथास्थान रखने या सजानेवाला स्थापक कहलाता था; और जो व्यक्ति कठपुतलियों के धागे हाथ में पकड़कर उनको नचाता था वह सूत्रधार कहलाता था। पीछे से इन्हीं सूत्रधार और स्थापक ने मिलकर ऐसी योजना की कि कठपुतलियों के स्थान पर नटों को रखा और नाटक के नाच-गाने तथा सम्वाद आदि का काम उन नटों से लिया जाने लगा। परन्तु सूत्रधार और स्थापक वही कठपुतलियों के नाचवाले थे। आगे चलकर जब नाटकों और रंगशालाओं की यथेष्ट उन्नति हुई तब रंगमंच पर सजीव नटों के आ जाने के कारण स्थापक की कोई आवश्यकता न रह गई और केवल सूत्रधार ही रह गया, जो नाटक और रंगशाला का प्रधान व्यवस्थापक था और जिसका रहना परम आवश्यक तथा अनिवार्य था। पीछे से कठपुतलियों के स्थान पर नाचने-गाने वाले रखे गये थे। कठपुतलियों के नाच और रूपक में कितना अधिक सम्बन्ध है इसका प्रमाण इस बात से भी मिल सकता है कि आजकल भी चीन में नाटक से पहले कठपुतलियों का नाच होता है।

छाया-नाटक—आगे चलकर हमारे यहाँ के नाटकों ने एक और उन्नति की थी। हमारे यहाँ छाया-नाटकों का भी प्रचार हुआ था। वे छाया-नाटक सम्भवतः आजकल के सिनेमा के मानो मूल रूप थे। उनमें चमड़े की कठपुतलियाँ बनाकर

प्रकाश के आगे साधारण कठपुतलियों की तरह नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए परदे पर पड़ती थी। दर्शक लोग परदे पर पड़नेवाली उसी छाया के रूप में नाटक देखते थे। इस प्रकार छोटी-छोटी पुतलियों की सहायता से परदे पर सजीव मनुष्यों की आकृतियाँ दिखाई जाती थीं। ऐसे छाया-नाटकों के लिये रूपक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्रायः रामायण और महाभारत के आख्यान आदि हुआ करते थे। ऐसे नाटकों में सुभट-कृत दूतांगद, भवभूति-कृत महावीरचरित, राजशेखर-कृत बालरामायण और जयदेव-कृत प्रसन्नराघव मुख्य हैं। भारत में विशेषतः दक्षिण भारत में, ऐसे नाटक सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक खेले जाते थे। जावा द्वीप में ऐसे छाया-नाटकों का प्रचार, बहुत दिनों पहले, भारत की देखा-देखी ही हुआ था। डाक्टर पिशल का तो यहाँ तक कहना है कि मध्य-युग में युरोप में कठपुतलियों आदि का जो नाच हुआ करता था, वह भी भारत का ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि जर्मन तथा अँगरेजी नाटकों में जो क्लाउन या मसखरे होते हैं, वे भी भारतीय नाटकों के विदूषकों के अनुकरण पर ही रखे गये हैं; क्योंकि विदूषकों की सबसे अधिक प्रधानता, और वह भी बहुत प्राचीन काल से, भारतीय नाटकों में ही पाई जाती है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र—यों तो भारत में नाट्य-कला का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर हो चुका है, पर अभी तक उसके प्राचीन इतिहास का कोई ठीक और क्रम-

बद्ध विवरण नहीं दिया जा सकता। उसका क्रमबद्ध इतिहास प्रायः प्रसिद्ध भरत मुनि के समय से ही मिलता है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भरत मुनि ने जो नाट्य-शास्त्र लिखा है, वह नाटक का लक्षण-ग्रन्थ है और वह भी कई लक्षण-ग्रन्थों के अनन्तर लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि नाटक-संबन्धी लक्षण-ग्रन्थ उसी समय लिखे गये होंगे, जब देश में नाटकों और नाट्य-कला का पूर्ण प्रचार हो चुका होगा; क्योंकि अनेक नाटकों को रंगमंच पर देखे अथवा पढ़े बिना न तो उनके गुणदोषों का विवेचन हो सकता था और न उनके सम्बन्ध में लक्षण-ग्रन्थ ही बन सकते थे। भरत को कालिदास तक ने आचार्य और माननीय माना है। अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि भरत का समय ईसा से कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य ही है, इससे और पहले चाहे जितना हो। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में नाटकों और रंगशालाओं का जो वर्णन मिलता है उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार था और बहुत से लोग नट का काम करते थे। अर्थ-शास्त्र का समय भी ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले का है। प्रायः उसी समय के लगभग भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र की भी रचना की थी। नाट्य-शास्त्र के आरम्भ में कहा गया है कि एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखित हुए। इस पर इन्द्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनो-विनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिससे शूद्रों तक का चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया

और उन चारों की सहायता से नाट्य-शास्त्र रूपी पाँचवें वेद की रचना की। इस नए वेद के लिये ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिये गये थे। इस कथा का और चाहे कोई अर्थ हो या न हो, पर इतना अर्थ अवश्य है कि नाट्य-शास्त्र की चारों बातें चारों वेदों से ली गई हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ के नाटक का ऋग्वेद के संवादों या आख्यानों के साथ भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

भारतीय रङ्गशाला—भरत-कृत नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में यह बतलाया गया है कि रंग-शालाएँ, जिनको उन दिनों प्रेक्षागृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। इसका विशेष वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, पर यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना चाहते हैं कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में रंगशालाएँ बनती थीं और उनके निर्माण के लिये नियम बन गये थे। इससे स्पष्ट है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र की बहुत अधिक उन्नति हो चुकी थी।

भारतीय नाट्य-कला का इतिहास—अब हम संक्षेप में भारतीय नाट्य-कला का कुछ इतिहास भी दे देना आवश्यक समझते हैं। मिस्रियों और यूनानियों की भाँति भारतीयों की नाट्य-कला का मूल भी धार्मिक ही है, पर इसमें औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता तथा प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सबसे प्राचीन करुण नाटकों (Tragedies) का आरम्भ वहाँ के महाकाव्यों और गीत-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक इतिहास

के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महा-काव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिन नाटकों का आरम्भ गीति-काव्यों और महाकाव्यों से हुआ हो उनकी अपेक्षा वे नाटक अधिक प्राचीन हैं जिनका मूल गद्य और गीति-काव्य में हो। हमारे यहाँ इस ढंग के प्राचीन नाटकों का अवशेष अब तक बंगाल की यात्राओं तथा ब्रज की रासलीलाओं के रूप में वर्तमान है। यद्यपि ठीक-ठीक यह नहीं बतलाया जा सकता कि भारत में शुद्ध और व्यवस्थित रूप में नाटकों का आरम्भ कब हुआ, तथापि अनेक प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध है कि ईसा से कम से कम हजार आठ सौ वर्ष पहले यहाँ नाटकों का यथेष्ट प्रचार था; और ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ की नाट्य-कला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके सम्बन्ध में अनेक लक्षण-ग्रन्थ भी बन गए थे। इस प्रकार हमारे यहाँ के नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास उस समय से आरम्भ होता है, जिस समय वे अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थे और जिसके उपरान्त उनका ह्रास आरम्भ हुआ था।

आज से कुछ ही दिनों पहले महाकवि कालिदास ही संस्कृत के आदि नाटककार माने जाते थे, पर अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि कालिदास से चार पाँच सौ वर्ष पहले भी संस्कृत में अनेक अच्छे-अच्छे नाटक बन चुके थे। पहले तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में ही उनसे पहले के भास और कविपुत्र आदि कई प्रसिद्ध नाटककारों का उल्लेख मिलता है; और तिस पर अब ट्रावनकोर में भास के अनेक नाटक मिल भी

गए हैं जिनमें से कई प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया में भी बौद्धकालीन अनेक खंडित नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से एक कनिष्क के राजकवि अश्वघोष का बनाया हुआ है। इन सब नाटकों की रचना-शैली और भाषा आदि भी प्रायः वैसी ही है जैसी कि पीछे के और नाटकों की है। इससे सिद्ध होता है कि इन नाटकों के बनने से पहले भी इस देश में नाटक-रचना के सम्बन्ध में नियम आदि बन चुके थे और उनके लक्षण-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। परन्तु हमारे नाटकों के विकास का यह काल अभी तक अज्ञात काल ही माना जाता है। अतः इसे हम यहीं छोड़कर ज्ञात काल की कुछ बातें कहते हैं।

हमारे नाटकों के ज्ञात-काल का आरम्भ महाकवि कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरम्भिक काल माना जाता है। पर हमारी समझ में यह उसका आरम्भिक काल नहीं, मध्य काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्नि-मित्र का समय ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है, इससे कुछ और पहले का भी हो सकता है। दूसरा नाटक शकुन्तला है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। उनका विक्रमोर्वशीय नाटक भी बहुत ही उत्तम है। उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर संस्कृत में और भी अनेक नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनन्तर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है, जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और

नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत अच्छा है ; पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्रचारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इनके पीछे के नाटककारों में भवभूति हुए जो कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रित थे और जिनका समय सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। इनके रचित महावीरचरित, उत्तर-रामचरित और मालतीमाधव नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके उपरांत नवीं शताब्दी के मध्य में भट्ट नारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी। नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक की रचना की थी। दसवीं शताब्दी में धनंजय ने दशरूपक नामक प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ भी लिखा, जिसमें नाटक की कथा-वस्तु, नायक, पात्र, कथोपकथन आदि का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है।

ईसवी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक तो संस्कृत में बहुत अच्छे-अच्छे नाटकों की रचना होती रही, पर इसके उपरांत संस्कृत नाटकों का पतन-काल आरम्भ हुआ। इसके अनन्तर जो नाटक बने वे नाट्य-कला की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं हैं, जितने अच्छे उनसे पहले के बने हुए नाटक हैं। इसी लिये हम उनका कोई उल्लेख न करके एक दूसरी बात पर विचार करना चाहते हैं।

भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव—संस्कृत के

नाटकों में यवनिका, यवनी और शकारि आदि शब्दों के आधार पर पहले कुछ विद्वान् कहा करते थे कि भारतवासियों ने नाट्य-कला यूनानियों से सीखी थी। यद्यपि आजकल इस मत के समर्थकों की संख्या बहुत ही कम रह गई है और अधिकांश विद्वान् यही मानने लगे हैं कि भारतवासियों ने अपनी नाट्य-कला का विकास सर्वथा स्वतन्त्र रूप से किया था, तथापि इस सम्बन्ध में हम दो एक बातें कह देना आवश्यक समझते हैं। पहली बात यह है कि भारतवासियों ने उस समय भी अच्छे-अच्छे नाटक तैयार कर लिये थे, जिस समय यूनानियों में नाट्य-कला का विकास अभी आरम्भ हुआ था। दूसरे, भारतवासियों ने यूनानी भाषा कभी अच्छी तरह सीखी ही नहीं। कुशन राज-दरबार में कभी-कभी यूनानी भाषा बोली जाती थी, पर वह बहुत ही टूटी-फूटी होती थी। यहाँ के सिक्कों आदि पर जो यूनानी भाषा मिलती है वह भी प्रायः बहुत रद्दी है। भारत में कभी कोई साहित्यिक यूनानी भाषा जानता ही नहीं था। भारत-वासियों ने ज्योतिष सम्बन्धी कुछ बातें अवश्य यूनानियों से सीखी थीं, पर उनकी शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ से लोग बाहर गए थे। ज्योतिष सरीखे विषयों की शिक्षा के लिये लोगों का विदेश जाना तो विशेष आश्चर्यजनक नहीं है, पर नाट्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश जाना कल्पनातीत ही है। हाँ, यह सम्भव है कि भारतवासियों ने नाटकों के परदे आदि यूनानियों से बनवाए हों अथवा वे उस देश के बने कपड़े के बनते रहे हों, जिससे उनका नाम यवनिका रखा गया हो। इन शब्दों से तो

अधिक से अधिक केवल यही सूचित होता है कि जिस समय हमारे यहाँ के अच्छे-अच्छे नाटक बने थे उस समय यवनों और शकों के साथ हमारा सम्बन्ध हो चुका था। तीसरी बात यह है कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्वों में आकाश और पाताल का अंतर है। हमारे यहाँ करुण (Tragic) और हास्य (Comic) का कोई झगड़ा ही नहीं है। हमारे सभी नाटक लोकानन्दकारी होते थे और हमारे यहाँ रंगमंच पर हत्या, युद्ध आदि के दृश्य दिखलाना वर्जित था। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता है, पर हमारे यहाँ प्राकृतिक शोभा के वर्णन और रसों की प्रधानता मानी गई है। विक्रमोर्वशीय का आरम्भ ही हिमालय के विशाल प्राकृतिक दृश्य से होता है। उत्तर-रामचरित और शकुन्तला में भी प्राकृतिक शोभा के ही वर्णन हैं। यूनानी नाटक बहुधा खुले मैदानों में हुआ करते थे; अथवा ऐसे अखाड़ों आदि में हुआ करते थे जिनमें और भी अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। पर भारतीय नाटक एक विशेष प्रकार की बनी हुई रंगशालाओं में होते थे। सारांश यह है कि कदाचित् एक भी बात ऐसी नहीं है जो यूनानी और भारतीय नाटकों में समान रूप से पाई जाती हो। हाँ, दोनों में अन्तर बहुत अधिक और प्रत्यक्ष है, और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि नाटक की रचना करना प्रतिभा का काम है और प्रतिभा कभी किसी की नकल नहीं करती। वह जो कुछ करती है, आपसे आप, सर्वथा स्वतन्त्र रूप से करती है।

यूनानी नाट्य-कला का विकास—आरम्भ से ही यूनानी नाटकों का सम्बन्ध वहाँ के धर्म से रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि आरम्भ में मिस्र अथवा पश्चिमी एशिया के कुछ प्राचीन देशों की देखादेखी यूनानवालों ने भी अपने यहाँ नाट्य-कला का प्रचार किया था। यह तो प्रायः सिद्ध ही है कि यूनानियों ने कई धार्मिक सिद्धांत तथा विश्वास मिस्र वालों से ग्रहण किए थे और यूनान तथा मिस्र दोनों के नाटकों का वहाँ के धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः यह माना जाता है कि यूनानियों ने अनेक धार्मिक शिक्षाओं के साथ-साथ मिस्रवालों अथवा पश्चिमी एशिया की कुछ प्राचीन जातियों से नाट्य-कला भी ली थी। यह निश्चित है कि यूनानियों ने स्वयं ही नाट्य-कला की सृष्टि नहीं की थी, पर साथ ही यह भी निर्विवाद है कि उन्होंने उसका विकास सर्वथा स्वतन्त्र रूप से और अपने ढंग पर किया था। आरम्भ में यूनान में डायोनिसस देवता के उद्देश्य से एक बहुत बड़ा धार्मिक उत्सव हुआ करता था। पीछे से उसी उत्सव के अवसर पर वहाँ नाटक भी खेले जाने लगे थे। वे नाटक दिन भर होते रहते थे और उनकी व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। भिन्न-भिन्न स्थानों में यह उत्सव वसंत ऋतु के आरम्भ, मध्य अथवा अंत में हुआ करता था। उस उत्सव के साथ जो नाटक होते थे उन्हें देखने के लिये दर्शकों को किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क नहीं देना पड़ता था, पर उन्हें अपने लिये बिछौने और जलपान आदि का स्वयं ही प्रबन्ध करना पड़ता था। परन्तु उस समय जो नाटक

होते थे, वे पूरे नाटक नहीं कहे जा सकते थे। हाँ, उनमें नाटकों का बिलकुल पूर्व-रूप अवश्य था। वास्तविक नाटकों और व्यवस्थित नाटक-मंडलियों की रचना और संगठन तो वहाँ ईसा से केवल चार-पाँच सौ वर्ष पहले ही आरम्भ हुआ था।

प्राचीनकाल में यूनान के डोरियन राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि लोग देव-मन्दिरों में एकत्र होकर भजन और नृत्य किया करते थे। वहाँ की सारी प्रजा प्रायः सैनिक थी, अतः उस नृत्य में सैनिकों के कृत्यों का साधारण नाट्य हुआ करता था। आगे चलकर उसमें यह विशेषता उत्पन्न हुई कि भारतीय सूत्र-धारों की तरह वहाँ के कवि भी अपनी मंडलियाँ संगठित करने लगे और अपने सिखाए हुए गायकों और नर्तकों को साथ लेकर धार्मिक उत्सवों के समय ऐसे नाटक करने लगे जो नाटक के केवल पूर्व-रूप ही कहे जा सकते हैं। धीरे-धीरे उन नृत्यों ने कई भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त कर लिए और उन्हीं स्वरूपों से आगे चलकर करुण और हास्य नाटकों की सृष्टि हुई। उनमें से एक प्रकार का नृत्य, जिसे हम "अजा-नृत्य" कह सकते हैं, बहुत प्रचलित हुआ। उस नृत्य में पचास आदमी होते थे जो ऐसे वेश धारण करते थे जिनके कारण वे आधे मनुष्य और आधे पशु जान पड़ते थे। उनके मुँह पर बकरी का चेहरा लगा दिया जाता था और उनके पैर तथा कान भी बकरियों के पैरों और कानों के समान बना दिये जाते थे। वे लोग जो गीत गाते थे वे "ट्रेजेडी" (Tragedy) कहलाते थे जिसका भावार्थ "अजा-गीत" है। आगे चलकर इन्हीं अजा-गीतों

से करुण नाटकों की सृष्टि हुई थी। इन अजा-गीतों का यूनानियों के डायोनिसस देवता के स्वरूप के अनुसार ही नाम-करण हुआ था। हमारे यहाँ के गणेश और नृसिंह आदि के समान डायोनिसस का स्वरूप बैल और बकरी के स्वरूप का सम्मिश्रण माना जाता था। मूर्त्तियों में उसके सिर पर साँड़ के सींग लगाए जाते थे और उनका शरीर बकरी की खाल के समान रखा जाता था। प्राचीन काल में यूनान के लोग स्वयं भी बकरी की खाल पहना करते थे, और अब तक कहीं-कहीं वहाँ के देहातियों और खेतिहरों की यही पोशाक है। आजकल भी थ्रेस आदि कुछ स्थानों में ब्रज की रासलीलाओं और बंगाल की यात्राओं की भाँति पुराने ढंग के कुछ नाटक होते हैं, जिनमें पात्र बकरी की खाल पहनकर अभिनय करते हैं। एक और स्थान में लोग एड्रास्टस नामक एक स्थानिक देवता के उत्सव में भी इसी प्रकार के नृत्य और अभिनय करते थे। यूनान की पौराणिक गाथाओं के अनुसार डायोनिसस और एड्रास्टस दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते थे, और यूनानियों के नाटकों के मुख्य आधार यही देवता और उनके चरित्र होते थे, जिनमें विपत्तियों और कष्टों की ही अधिकता रहती थी। यही कारण है कि यूनान के करुण नाटकों का मूल ये "अजा-गीत" ही माने जाते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यूनानी करुण नाटकों का अंत वास्तव में दुःखपूर्ण नहीं होता वरन् मध्य ही दुःखपूर्ण होता है, क्योंकि उनके देवताओं ने पौराणिक कथाओं के अनुसार दुःख भोगने के उपरांत अंत में विजय ही प्राप्त की थी। हाँ, आगे चलकर

उनके अनुकरण पर और और देशों में जो नाटक बने वे प्रायः दुःखांत ही थे।

यद्यपि ये अजा-गीत युरोप के आधुनिक करुण नाटकों के मूल-रूप हैं, तथापि यूनान में वास्तविक करुण नाटकों का आरंभ महाकवि होमर के ईलियड महाकाव्य की रचना के अनंतर हुआ था। पहले तो देवताओं के सामने केवल नृत्य और गीत होते थे, पर पीछे से उनमें संवाद या कथोपकथन भी मिला दिया गया था। गायकों का प्रधान एक मंच पर खड़ा हो जाता था और शेष गायकों के साथ उसका कुछ कथोपकथन होता था, पर इस कथोपकथन का मूल संभवतः महाकवि होमर का ईलियड महाकाव्य था। पहले शहरों में कुछ भिखमंगे ईलियड महाकाव्य के इधर-उधर के अंश गाते फिरते थे जो लोगों को बहुत पसंद आते थे और जिनका प्रचार शीघ्र ही बहुत बढ़ गया था। कुछ दिनों के अनंतर धार्मिक उत्सवों पर अजा-गीतों के साथ साथ ईलियड के अंश भी गाए जाने लगे। इस प्रकार अजा-गीतों और ईलियड-गान के संयोग से यूनान में नाट्य-कला का बीजारोपण हुआ, क्योंकि गीत और नृत्य में कथोपकथन के मिल जाने पर नाटकों की सृष्टि में वेश-भूषा और भाव-भंगी के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी दूसरी बात की कसर रह जाती हो।

इस प्रकार नाटकों का सूत्रपात होने के उपरांत धीरे धीरे नाट्य-कला का विकास होने लगा और लोग उसमें नवीनता अथवा विशेषता लाने लगे। कहते हैं कि ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व थेस्पिस नामक एक यूनानी कवि हुआ था, जिसने यूनान में सबसे

पहले नाटक लिखना आरंभ किया था। यह प्रसिद्ध है कि उसने सात करुण नाटकों की रचना की थी, पर अब उनमें से एक भी प्राप्त नहीं है। थेस्पिस अपने साथ दो और आदमी रखता था। दोनों को वह एक गाड़ी पर अपने साथ लेकर गाँव गाँव और नगर नगर घूमा करता था। उसी गाड़ी पर वे तीनों मिलकर गाते और कुछ कथोपकथन करते थे। उसके साथी किसी प्रकार का चेहरा लगाए रहते थे और किसी देवता के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं का नाट्य किया करते थे। बहुत दिनों तक नाटक के इस रूप में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। यदि कोई उन्नति या परिवर्त्तन हुआ भी तो वह केवल यही कि गीत घटने लगे और कथोपकथन बढ़ने लगे। पर नटों की संख्या अथवा रंगमंच में कोई विशेष उल्लेख योग्य परिवर्त्तन अथवा विकास नहीं हुआ, सब बातें प्रायः ज्यों की त्यों रहीं।

यूनानी हास्य नाटक—प्राचीन काल में यूनान में यह प्रथा थी कि कुछ विशेष अवसरों पर लोग पुरुष की जननेंद्रिय का चिह्न बनाकर उसका पूजन करते थे और वही चिह्न लेकर जलूस निकालते थे। उस जलूस में लोग तरह तरह के अश्लील गीत गाते थे। उस जलूस की समता अपने यहाँ के होली के स्वाँगों से की जा सकती है। उस जलूस के साथ जो गीत गाए जाते थे, वे उस इंद्रिय-विशेष की प्रशंसा में और प्रायः हास्यपूर्ण हुआ करते थे। कहते हैं कि उन्हीं गीतों में मोरिस नामक स्थान के सुसेरियन नामक एक व्यक्ति ने कुछ परिवर्त्तन और सुधार करके उनकी अश्लीलता कम

की थी और उनमें अपने बनाए कुछ नए गीत मिलाए थे। इसके उपरांत मेइसन, टालिनस आदि कई व्यक्तियों ने उसमें कुछ और सुधार तथा परिवर्तन किए। परंतु वे हास्यरस-प्रधान गीत और नाटक यूनानियों को पसंद नहीं आए। यूनान में प्रायः सिकंदर के समय तक करुण नाटकों की ही प्रधानता रही तथा हास्य नाटकों का उतना अधिक प्रचार न हो सका। उन दिनों उन हास्य नाटकों में प्रायः चौबीस गायक हुआ करते थे और पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान, कथोपकथन और परिहास आदि भी हुआ करता था। बिलकुल आरंभ में उन नाटकों में केवल ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक अथवा राजकीय पुरुषों की हँसी उड़ाई जाती थी और पशु पक्षी आदि के स्वाँग भरे जाते थे। विशेषतः राजकीय अधिकारियों के नाम पर खूब गीत बनाए जाते थे और उनकी खूब खिल्ली उड़ाई जाती थी। पर आगे चलकर राज्य के द्वारा इन बातों को रोकने के लिये अनेक प्रतिबंध होने लगे। साधारणतः यूनानी हास्य नाटकों के ऐतिहासिक दृष्टि से तीन युग माने जाते हैं। पहला प्राचीन युग, जो ईसा से प्रायः ३६० वर्ष पहले तक था, दूसरा मध्य युग, जो उसके बाद से लेकर ईसा के ३०६ वर्ष पूर्व तक माना जाता है, और तीसरा नवीन युग, जो उसके अनंतर आरंभ होता है। मध्य युग में ही प्राचीन युगवाली अश्लीलता और भड़प्पन बहुत कुछ कम हो गया था, और नवीन युग में तो उसमें और भी कई नए सुधार हुए थे। नवीन युग में और अनेक प्रकार के सुधारों के साथ ही साथ हास्य नाटकों में शृंगार और प्रेमपूर्ण कथाओं का भी प्रवेश होने लगा। उस युग के प्रवर्तक

फिलेमन और मेनेंडर आदि माने जाते हैं। थोड़े ही दिनों के उपरांत जब यूनानी सभ्यता का अंत आ चला और रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त कर ली, तब यूनान की और और अनेक बातों के साथ वहाँ की नाट्य-कला भी रोम चली गई, और वहाँ से सारे युरोप में फैली।

रोम के नाटक—रोम में पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पहले एक भारी विजय के उपलक्ष में हुआ था। उस समय रोम के रंगमंच पर पहले पहल करुण और हास्य दोनों प्रकार के नाटक खेले गए थे। उन दोनों नाटकों का रचयिता एंड्रोनिकस नामक एक यूनानी माना जाता है, जिसने स्वयं उन नाटकों में अभिनय किया था। इसके उपरांत रोम में और भी जो नाटक बने, वे सब नवीन युग के यूनानी नाटकों के अनुकरण मात्र थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनमें रोम की राष्ट्रीयता के भावों को अधिक स्थान मिलता था; और यूनानी नाटकों से रोम के नाटकों में यही सबसे बड़ी विशेषता थी, क्योंकि यूनानी नाटक बहुधा राष्ट्रीय भावों से शून्य होते थे और उनका रूप प्रायः धार्मिक हुआ करता था। नाट्य-कला की दृष्टि से भी रोम के नाटकों में थोड़े बहुत परिवर्तन और सुधार हुए थे। उन्हीं दिनों रोम में अनेक रंगशालाएँ भी बन गई थीं। रोम में पहली स्थायी रंगशाला ईसा से ५५ वर्ष पहले बनी थी, जिसमें लगभग १८००० दर्शकों के बैठने के लिये स्थान था। रोम के नाटकों में अभिनेता-गण प्रायः यूनान या दक्षिण इटली के दास हुआ करते थे। इसका

कारण कदाचित् यही था कि प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में अभिनेता और नट कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। रोम के लोग विजेता थे, इसलिए वे अभिनय आदि के लिये अपने दासों को शिक्षा देकर तैयार किया करते थे। रोम की सभ्यता और बल की वृद्धि के साथ ही साथ वहाँ नाटकों की भी खूब उन्नति हुई थी। पर ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य में जब ईसाई पादरियों का ज़ोर बहुत बढ़ गया और वे नाटकों तथा अभिनेताओं की बहुत निंदा और विरोध करने लगे, रोम में नाट्य-कला का ह्रास आरंभ हुआ। जब रोमन लोग रंगशालाओं में अपने मनोविनोद के लिये अनेक प्रकार के क्रूरता और निर्दयता-पूर्ण खेल कराने लग गये और उन रंगशालाओं के कारण लोगों में विलासिता बहुत बढ़ गई तब नाटकों आदि का और भी घोर विरोध होने लगा तथा राज्य की ओर से उनका प्रचार रोकने के लिये अनेक प्रकार के नियम बनने लगे। यह निश्चय किया गया कि नट लोग ईसाइयों के धार्मिक उत्सवों आदि में सम्मिलित न हो सकें और जो लोग रविवार या दूसरी छुट्टियों के दिन गिरजा में न जाकर नाट्यशालाओं में जाया करें वे समाज-च्युत कर दिए जायँ। उस समय अधिकाँश युरोप में, और विशेषतः रोम में, ईसाई धर्म का बहुत अधिक जोर था, यहाँ तक कि राजकीय अधिकार भी प्रायः धर्माचार्यों के ही हाथ में चला गया था। अतः उनके विरोध के कारण रोम में नाट्य-कला का ह्रास होने लगा और अन्त में नाटक बिलकुल उठ गए। इसके कई सौ वर्ष पीछे ईसाई धर्माचार्यों तथा

कुछ और लोगों ने फिर से धार्मिक तथा नैतिक नाटकों का प्रचार आरम्भ किया था।

युरोप के नाटक—हम पहले कह चुके हैं कि धर्माचार्यों और पादरियों के विरोध के कारण लगभग चौथी शताब्दी से ही युरोप में नाटकों का पतन आरम्भ हो गया था। यद्यपि उस समय नाटकों का होना बिलकुल बन्द नहीं हुआ था, तथापि बहुत कुछ कम अवश्य हो गया था और उनका स्थान भावाश्रित नृत्य या 'माग' ने ले लिया था। परन्तु गिरजा में ईसाइयों की जो ईश्वर-प्रार्थना होती है, स्वयं उसी में नाटक के कई तत्व वर्तमान हैं, इस लिये वह प्रार्थना ही नाटक का रूप धारण करने लगी और धीरे-धीरे कई सौ वर्षों के उपरांत वहाँ धार्मिक नाटकों की रचना आरम्भ हुई। पीछे से प्रार्थना के उपरान्त स्वयं गिरजा में ही अथवा उसके बाहर नाटक होने लगे। आगे चलकर इन धार्मिक नाटकों का और भी विकास हुआ और धीरे-धीरे वहाँ अनेक व्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ स्थापित हो गईं। जब धार्मिक नाटकों की बहुत अधिकता हो गई, तब धीरे-धीरे नैतिक और सामाजिक नाटक भी बनने लगे। अब जैसे जैसे इन नाटकों का प्रचार बढ़ता जाता था वैसे-वैसे नाटकों पर से धर्माचार्यों का अधिकार भी उठता जाता था। साथ ही स्वयं ईसाई धर्म का प्रभाव भी पहले के समान न रह गया था, इससे नटों और नाटककारों को और भी स्वतन्त्रता मिल गई। उस समय तक नाटकों के विकास का यह क्रम और अवस्था युरोप के प्रायः सभी देशों में समान थी। परन्तु

एक बात थी। अब तक तो युरोप के नाटकों का रूप बहुधा स्वाँगों और रासों आदि के समान ही था, पर युरोप के पुनरुत्थान काल के उपरांत उनको साहित्यिक रूप भी प्राप्त होने लग गया था। दूसरी बात यह थी कि पुनरुत्थान-काल के पूर्व प्रायः सारे युरोप के नाटक अनेक बातों में बिलकुल एक से होते थे। पर उसके उपरांत प्रत्येक देश में अपने अपने ढंग पर अलग अलग राष्ट्रीय नाटक बनने लग गए। राष्ट्रीयता के बंधन में पड़ने के उपरांत भिन्न-भिन्न देशों के नाटकों की उन्नति भिन्न-भिन्न प्रकार और गति से होने लगी। विशेषतः स्पेन और इटली वालों ने उस समय नाट्य-कला में बहुत अच्छी उन्नति की और इन देशों में अनेक अच्छे-अच्छे नाटक लिखे गए। युरोप के अन्यान्य देशों के आधुनिक नाटकों पर बहुधा इन्हीं में से किसी न किसी देश के नाटकों का प्रभाव पड़ा है।

अङ्गरेजी नाटक—युरोप के अन्यान्य देशों की भाँति इँगलैंड में भी मध्य युग तक पुराने नाटकों का अंत हो गया था। पर महारानी एलिज़बेथ के राज्यारोहण के समय वहाँ फिर नाटकों का प्रचार आरम्भ हुआ। उस समय वहाँ पहले पहल इटैलियन भाषा के कुछ नाटकों का प्रचार हुआ था, जिनकी देखादेखी अँगरेज़ कवि भी करुण और हास्य नाटक रचने लगे थे। महारानी एलिज़बेथ को नाटकों का बहुत शौक हो गया था, अतः उनके शासन-काल में इँगलैंड में नाट्य-कला की यथेष्ट उन्नति हुई। उनके समय में अनेक करुण और हास्य नाटक बने, जिन्हें

सर्वसाधारण बड़े चाव से देखते थे। उसी समय रंगशालाओं में राजनीति का भी कुछ पुट आ गया था, जिस के कारण वहाँ के राजनीतिज्ञों में कुछ वैमनस्य हो चला था। ऐसे समय में इँगलैंड के नाट्य-क्षेत्र में शेक्सपियर ने प्रवेश करके अँगरेज़ी नाटक-रचना में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। शेक्सपियर, एक प्रतिभा-शाली कवि होने के अतिरिक्त, स्वयं भी पहले कुछ दिनों तक नट का काम कर चुका था, इस लिये उसके सभी हास्य और करुण नाटक बहुत उच्च कोटि के होते थे और सर्वसाधारण में उनका आदर भी अधिक होता था। इसके उपरांत इँगलैंड में प्रायः जितने अच्छे-अच्छे नाटककार हुए उन सब पर शेक्सपियर का प्रभाव पड़ा था; और अभी तक वहाँ के नाटकों में शेक्सपियर की थोड़ी बहुत छाया पाई जाती है। बीच में गृह-कलह और राजनीतिक झगड़ों आदि के कारण और राज्य की ओर से नाटकों तथा रंगशालाओं में हस्तक्षेप होने के कारण, कुछ दिनों के लिये, इँगलैंड की नाट्य-कला की उन्नति में बहुत कुछ बाधा पड़ गई थी; और ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसका अन्त हो जायगा। पर यह बात नहीं हुई और थोड़े ही दिनों के उपरांत वहाँ नाट्य-कला का फिर से उद्धार होने लगा। इधर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उसकी विशेष उन्नति होने लगी है; और अब तो इँगलैंड की नाट्य-कला संसार में बहुत उन्नत तथा उसका नाट्य-साहित्य बहुत श्रेष्ठ माना जाता है।

मिस्र के नाटक—यहाँ हम एक और बात बतला देना चाहते

हैं। जिस प्रकार रोम में नाट्य-कला का प्रचार यूनान के अनुकरण पर हुआ था, उसी प्रकार यूनान में नाटकों का प्रचार मिस्र के नाटकों की देखादेखी हुआ था। यूनान में नाटकों का प्रचार होने से बहुत पहले मिस्र में नाटकों का बहुत कुछ प्रचार था। उनका आरम्भिक रूप भी यूनानी नाटकों के आरम्भिक रूप से बहुत कुछ मिलता जुलता था। वहाँ भी अनेक धार्मिक अवसरों पर देवी-देवताओं के जीवन से संबंध रखनेवाली घटना के नाटक हुआ करते थे। परन्तु मिस्र की नाट्य-कला भारत की नाट्य-कला के समान इतनी प्राचीन है कि उसका उस समय का ठीक-ठीक और शृंखलाबद्ध इतिहास मिलना बहुत ही कठिन है।

चीन के नाटक—चीन में भी नाट्य-कला का विकास, भारत की भाँति, बहुत प्राचीन काल में नृत्य और संगीत कलाओं के संयोग से हुआ था। पता चलता है कि कनफूची के समय में भी वहाँ अपने आरंभिक रूप में नाटक हुआ करते थे। ऐसे नाटक प्रायः फसल अथवा युद्ध आदि की समाप्ति पर हुआ करते थे। उनमें लोग नृत्य और गीत आदि के साथ कई प्रकार की नकलें किया करते थे। परन्तु नाटक के शुद्ध और व्यवस्थित रूप का प्रचार वहाँ ईसा से लगभग ५८० वर्ष पीछे हुआ था। चीन वाले कहते हैं कि तत्कालीन सम्राट् वान ने पहले पहल नाटक का आरंभ किया था। पर कुछ लोगों का मत है कि नाटक का आविष्कर्ता सम्राट ब्युत्स-सङ्ग था, जो ईसवी सन् ७२० के लगभग हुआ था। चीनी नाट्य-कला का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया जा

सकता है। पहला काल ताँग राजवंश का शासन-काल था जो ईसवी सन् ७२० से ६६० तक था ; दूसरा सुंग राजवंश का शासन-काल था जो सन ६६० से ११२६ तक था ; और तीसरा काल युआन राजवंशों का शासन काल था जो सन् ११२६ से १३६७ तक था। ताँग काल के नाटक आजकल नहीं मिलते, पर कहा जाता है कि उस काल के सभी नाटक ऐतिहासिक हुआ करते थे और उनमें युद्धों तथा वीरों के कार्यों का नाट्य हुआ करता था। सुंग काल के नाटक प्रायः गीतों से ही भरे होते थे और उनमें नाटक की सारी कथा गाकर कही जाती थीं। उन दिनों के नाटकों में एक विशेषता यह भी थी कि प्रत्येक नाटक में अधिक से अधिक पाँच ही नट हुआ करते थे। पर युआन काल में नाटकों की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। उन दिनों वहाँ जैसे अच्छे नाटक बने, वैसे कदाचित् आज तक भी न बने होंगे। इसके अतिरिक्त चीनियों ने उन दिनों अपने नाटकों में जो विशेषताएँ उत्पन्न की थीं, वे प्रायः आज तक ज्यों की त्यों वर्तमान हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि चीन के उन दिनों के नाटक आजकल के नाटकों से किसी बात में कम नहीं हैं। उस काल में वहाँ ८५ नाटककार हुए थे, जिन में चार स्त्रियाँ भी थीं। उस समय के लिखे हुए आज तक लगभग ५५० नाटक मिले हैं, जो किसी एक विषय के नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न विषयों के हैं। उन दिनों पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे जाते थे और रंगमंच पर सम्राट् से लेकर घर की साधारण मजदूरनियों तक के चरित्रों का अभिनय होता था। उनमें का कथोपकथन

बिलकुल साधारण और बोलचाल की भाषा में हुआ करता था। उस समय के नाटकों में पाँच अंक होते थे, जिनमें से पहला कथा-नक या विषय-प्रवेश के रूप में होता था। परन्तु चीनी रंगशालाओं में परदे या यवनिकाएँ नहीं होती थीं और न दो अंकों के बीच में किसी प्रकार का विश्राम आदि हुआ करता था। उन दिनों की नाटक-रचना में इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था कि उससे लोगों को पूरी-पूरी शिक्षा मिले तथा उनका चरित्र सुधरे; और उनमें कोई अश्लील या आपत्ति-जनक बात न आने पावे। पर फिर भी उनमें हास्य रस की कमी नहीं होती थी। उन की कथावस्तु और रंगशाला, दोनों बिलकुल सीधी सादी और सरल होती थीं। उनकी रंगशालाएँ तो इतनी साधारण होती थीं कि छोटे से छोटे गाँव में भी, आवश्यकता पड़ने पर, तुरन्तु रंग-शाला बना ली जाती थी। यही कारण था कि चीन में नाटकों का प्रचार गाँवों तक में हो गया था। पर नटों का वहाँ भी समाज में कोई आदर नहीं होता था। वे नौकरों तथा नाइयों के समान समझे जाते थे। उनको सार्वजनिक परीक्षाओं तक में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं था। पहले, वहाँ स्त्रियाँ भी रङ्गमंच पर अभिनय किया करती थीं, पर जब से एक नटी को सम्राट् खिन-लाँग ने अपनी उपपत्नी बना लिया तब से वहाँ की रंगशालाओं में स्त्रियों का प्रवेश बन्द हो गया।

एशिया में भारत और चीन यही दो ऐसे देश हैं जिनमें बहुत प्राचीन काल में और स्वतन्त्र रूप से नाटकों का आरम्भ, प्रचार और विकास हुआ था। अन्यान्य देशों में बहुधा इन्हीं दोनों देशों

से नाटक गए हैं । स्याम और मलय आदि देशों में भारत की देखादेखी और जापान में चीन के अनुकरण पर नाटकों का आरम्भ और प्रचार हुआ था । यद्यपि अरब देश का साहित्य बहुत उन्नत और पूर्ण है तथापि यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वहाँ नाटकों का अभी तक विकास ही नहीं हुआ । नाटकों की ओर अरबवालों की प्रवृत्ति बहुत पीछे हुई है और अब भी वहाँ मौलिक नाटकों का अभाव ही है । आजकल अरबी भाषा में जो थोड़े बहुत नाटक मिलते भी हैं वे दूसरी भाषाओं के अनुवाद हैं । इस्लाम धर्म में तो अवश्य ही नृत्य, गीत आदि की मनाही है, पर आश्चर्य है कि उसके प्रचार के पहले वहाँ नाटकों का आरम्भ क्यों नहीं हुआ । जिस मिस्र देश में बहुत प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में अनेक नाटक विद्यमान थे, उस मिस्र देश में भी अब निज का कोई नाटक नहीं रह गया है । जो नाटक हैं भी, वे दूसरों की नक़ल या अनुवाद हैं । यह उस देश की दशा है जिसकी देखा-देखी यूनान में नाटकों का प्रचार हुआ था । इस विषय में यूनान का अनुकरण रोम ने और पीछे से रोम का अनुकरण प्रायः सारे युरोप ने किया था । अमेरिका के पेरू और मेक्सिको आदि देशों में अवश्य ही बहुत प्राचीन और बिलकुल स्वतन्त्र रूप से नाटकों का आरम्भ तथा प्रचार हुआ था । यद्यपि आजकल वहाँ के लाल वर्णवालों की दशा बहुत ही शोचनीय है, तथापि वहाँ अब भी प्राचीन ढंग के नाटक होते हैं । इन देशों के नाटकों के सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इनके नाटकों की अनेक बातें

भारतीय और संस्कृत नाटकों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।

आधुनिक भारतीय नाटक--हम ऊपर कह चुके हैं कि ईसा की दसवीं शताब्दी के उपरांत भारतीय नाट्य-कला का ह्रास होने लगा था और अच्छे नाटकों का बनना प्रायः बन्द सा हो चला था। यद्यपि हमारे यहाँ के हनुमन्नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय, रत्नावली, मुद्राराक्षस आदि नाटक दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच में बने थे, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों नाटकों की रचना और प्रचार दोनों में कमी होने लग गई थी। चौदहवीं शताब्दी के उपरांत तो मानो एक प्रकार से उनका सर्वथा अन्त ही हो गया था। इधर संस्कृत में जो थोड़े बहुत नाटक बने भी, वे प्रायः साधारण कोटि के थे। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि भारतवर्ष में नाट्य-कला का ह्रास ठीक उसी समय प्रारम्भ हुआ था, जिस समय इस देश पर मुसलमानों के आक्रमणों का आरम्भ हुआ था। विदेशियों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के समय यदि लोगों को खेल तमाशे अच्छे न लगें तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है; और इसके परिणाम स्वरूप यदि भारत में नाट्य-कला का अन्त हो गया तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिये। कुछ दिनों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के उपरांत प्रायः सारा देश मुसलमानों के हाथ में चला गया। आरम्भ में ही मुसलमानों में संगीत और नाट्य-कला का नितांत अभाव था।

यही नहीं वरन् धार्मिक दृष्टि से वे लोग इन सब बातों के घोर विरोधी थे। अतः उनके समय में नाटकों की कुछ भी चर्चा न हो सकी। हाँ, जिन स्थानों में हिन्दुओं का राज्य था, उनमें कभी-कभी और कहीं-कहीं नाटक रचे और खेले जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत से मानो अपनी निज की नाट्य-कला उठ सी गई थी। जो थोड़ी बची भी थी वह भी, आधुनिक नाटकों के रूप में नहीं बल्कि, नाटकों के बिलकुल पूर्व रूप में थी। संयुक्त प्रान्त में रासलीला, बंगाल में यात्रा और महाराष्ट्र प्रदेश में कीर्तन आदि से ही लोग अपना मन बहला लेते थे, पर इधर प्रायः पचास साठ वर्षों से भारत के सभी प्रांतों में अँगरेजी ढँग की रंगशालाएँ बहुत बढ़ गई हैं, जिन में अनेक प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक होते हैं। इधर कुछ दिनों से कहीं-कहीं राजनीतिक नाटक भी होने लगे हैं। विशेषतः बंगालियों, महाराष्ट्रों और गुजरातियों ने इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की है। और उनकी रंगशालाएँ बहुत अच्छे ढँग से चल रही हैं। रँगशालाओं के साथ ही साथ इन लोगों ने अपनी भाषा में अनेक उत्तमोत्तम नाटकों की भी रचना की है। पर हिन्दी में जहाँ और अनेक बातों का अभी आरम्भ हुआ है, वहाँ नाटकों का भी आरम्भ ही समझना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में बँगला, मराठी या गुजराती के ढङ्ग के अच्छे अच्छे नाटकों की रचना का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

विश्व-साहित्य

में

नाटक

(पदुमलाल-पुन्नालाल बख्शी)

नाटक-शब्द नट् धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अँगरेज़ी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिये संस्कृत में नाटक की अपेक्षा 'रूपक'-शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रियाकलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानो वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीज़र के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानों वही जूलियस सीज़र है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ़ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण

नहीं होता, मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ लें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसी के आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल-रूप मनुष्यों के अंतर्जगत् में विद्यमान है। बाह्य जगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है। इसी को अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये विशेष योग्यता की ज़रूरत है। इसलिये, यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है, तथापि, नाट्य-कला में दक्ष होना सबके लिये सम्भव नहीं।

नाटक और नाट्य-कला में परस्पर सम्बन्ध है। नाटक के लिये नाट्य-कला आवश्यक है। परन्तु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अंतःकरण में होती है। बाह्य जगत् में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्य-कला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों में की जाती है। उन्हें दृश्य-काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंग-भूमि में कवि नहीं आता तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

भारतीय नाटक और ग्रीक नाटक—कुछ समय पहले लोगों की यह धारणा हो गई थी कि भारतीय नाटकों में ग्रीक-देश के नाटकों का अनुकरण किया गया है। इसकी पुष्टि के लिये हिन्दू-नाटकों में प्रयुक्त यवनिका-शब्द का उल्लेख किया जाता था, यद्यपि अभी तक इसी का निश्चय नहीं हुआ कि ग्रीक लोग यवनिका का उपयोग करते भी थे, या नहीं।

लोगों का यह समझना ठीक नहीं कि भारत ने ग्रीक-नाटकों का अनुकरण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीस और भारत ने परस्पर बहुत कुछ लिया-दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है। प्रतिभा कोरा अनुकरण नहीं करती। वह अभीष्ट वस्तु को ग्रहण कर उसे अपना लेती है। न तो ग्रीस ने भारत का अनुकरण किया है, और न भारत ने ग्रीस का। दोनों ने अपनी-अपनी प्रतिभा से अपने-अपने साहित्य की वृद्धि की है। ग्रीक और भारतीय नाटकों में परस्पर समता ही नहीं है। हिन्दू-नाटकों में ग्रीक-नाटकों की एकताओं की उपेक्षा की गई है। ग्रीक भाषा में दुःखांत नाटक हैं; परन्तु हिन्दुओं के साहित्य में एक भी ऐसा नाटक नहीं। इतना हम जरूर कहेंगे कि हिन्दू नाटकों के विदूषक को इँगलैंड की रानी एलिज़बेथ के समय के नाटकों में, तथा रोमन नाटकों में भी, क्लाउन (Clown) का रूप प्राप्त हो गया है। क्लाउन कहते हैं भाँड़ को। पीशेल नाम के विद्वान् का भी यही कहना है कि विदूषक के ही आदर्श पर युरोप के नाटकों में बफ़ून (Buffoon) अर्थात् भाँड़ की सृष्टि हुई है।

भारतीय नाटकों की प्राचीनता--हिन्दू-नाटकों की उन्नति प्राचीन काल ही में हो गई थी। मध्य-एशिया में उपलब्ध एक ताड़पत्र के ग्रन्थ से विदित होता है कि कुशान-राजों के काल में ही—जब मध्य-एशिया भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत था—हिन्दू-नाटकों की श्री-वृद्धि हो गई थी। छठी शताब्दी में हिन्दू लोग जावा-द्वीप में बस गए थे। वहाँ के छाया-नाटकों को देखकर हम जान सकते हैं कि हिन्दू-नाटकों का कितना प्रभाव उन पर पड़ा है। बर्मा, स्याम और कंबोडिया में भी रंगमंच पर राम और बुद्ध के चरित्रों का अवलम्बन करके लिखे गए नाटक खेले गए हैं। रामावतार का अभिनय तो मलाया-द्वीप-समूह में ही नहीं, चीन तक में किया गया था।

हिन्दू-नाटकों की इस श्री-वृद्धि का कारण यह है कि हिंदू-मात्र की दृष्टि में नाटकों का धार्मिक महत्व है। योरप में नाट्य-शालाओं के प्रति अनेक बार घृणा प्रदर्शित की गई। उनका प्रचार भी रोका गया। धार्मिक ईसाई का यह विश्वास था कि लोगों को पाप-पथ पर ले जाने के लिये ही शैतान ने इन आमोद-प्रमोदों की सृष्टि की है। रोम में नाटक खेलनेवालों का कुछ भी आदर नहीं होता था। चीन में उनकी सन्तानों को यह अधिकार न था कि वे परीक्षाओं में बैठ सकें। पर हिन्दू लोग नाट्य-शास्त्र को पंचम वेद मानते हैं। उनका विश्वास है कि भरत मुनि ने संसार के कल्याण के लिये उस का आविष्कार किया है।

सबसे प्राचीन नाट्य-शास्त्र भरत मुनि का ही है। पाणिनि के समय में भी नाट्य-शास्त्र प्रचलित थे। उन्होंने दो आचार्यों का उल्लेख किया है—शिलालिन और कृशाश्व। पतंजलि के समय में भी नाटक खेले जाते थे। उनके महाभाष्य में कंस-वध और बलि-बंधन के खेले जाने का साफ़ साफ़ उल्लेख है।

वैदिक संवाद--हिन्दू नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम रूप देखने के लिये हमें वेदों की आलोचना करनी चाहिये। ऋग्वेद के कई सूक्तों में कुछ सम्वाद हैं—जैसे यम और यमी का सम्वाद, पुरूरवा और उर्वशी इत्यादि। इनकी गणना हम नाटकों में कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ही पुराणों में, कथारूप में, विस्तार-पूर्वक वर्णित हुआ है, और उसे ही कालिदास ने नाटक का रूप दिया है। जान पड़ता है, पहले-पहल नाटकों में सिर्फ संगीत ही रहता था। पीछे से उनमें संवाद (अर्थात् भाषण या कथोपकथन) जोड़े गए हैं। फिर, इसके अनन्तर, कदाचित् उनमें कृष्णचरित का समावेश किया गया है। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं कि बहुत प्राचीन-काल में ही नाटकों का अभिनय होने लगा था।

भारतीय नाटकों की विशेषताएँ-- हिन्दू-नाटककार कार्यों और विचारों की एकताओं का खूब ख्याल रखते थे। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों की घटनाओं को कार्य-कारण की शृंखला में बाँध रक्खा है। हिन्दू-साहित्य में संयोगांत और वियोगांत नाटक अलग-अलग नहीं हैं। उनमें हर्ष और शोक के भाव

मिश्रित रहते हैं। रंगभूमि में अत्यन्त शोकोत्पादक अथवा विकार-वर्द्धक दृश्य नहीं दिखलाए जाते थे; क्योंकि ऐसा करने से मन विकृत हो जाने का डर था। शोक की उपेक्षा नहीं की जाती थी; पर ज़ोर इस बात पर दिया जाता था कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिये। संसार जिन नियमों से बँधा है, वे हम लोगों के लिये श्रेयस्कर हैं।

प्रत्येक नाटक के आरम्भ और अन्त में आशीर्वादात्मक श्लोक रहते हैं। उनका विषय प्रायः धार्मिक ग्रन्थों से लिया जाता है। ग्रीक नाट्यकार, जर्मन कवि और अँगरेज़ शेक्सपियर आदि चरित्र-चित्रण में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। उनका विषय है मनुष्य। हिन्दू-नाटककारों का विषय है प्रकृति। उनके लिये प्रकृति ही यथार्थ में शिक्षा देने वाली है। यही कारण है कि हिन्दू-नाटक प्रकृति-सम्बन्धी उत्सवों में खेले जाते थे, अधिकतर वसन्त के उत्सव में, जब विश्व-प्रकृति का नव जीवन आरम्भ होता है। बिना दुःख के, बिना तपस्या के पवित्रता नहीं आती। बिना आत्म-त्याग के आत्मोन्नति नहीं होती। हिन्दू नाटकों में यही भाव स्पष्ट करके दिखाया गया है।

चीन के नाटक--भारतीय नाटकों के समान चीन के नाटक भी बड़े प्राचीन हैं। जब नृत्य और संगीत का सम्मेलन हुआ, तब नाटकों का आविर्भाव हुआ। अँगरेज़ी में उन्हें बैलेट (Ballets) और पेंटोमाईम (Pantomimes) कहते हैं, उन्हीं को हम चीन के नाटकों का प्राचीनतम रूप कह सकते हैं।

उनमें फसल, युद्ध, शान्ति आदि विषयों का अलंकारिक रूप से वर्णन रहता था। ~~ब्रू-बैम-द्वारा~~ चीन-विजय पर एक ऐसे ही नाटक की रचना की गई थी। कुछ दन्तकथाओं के अनुसार यह कहा जाता है कि सन् ५८० के लगभग सम्राट् वान-टी ने नाटकों का आविष्कार किया। पर अधिकांश लोगों की यह सम्मति है कि सन् ७२० में संगीत-कला-विशारद सम्राट् ह्वेनसंग ने ही नाटकों का प्रचार किया। पेंटोमाईम की अवहेलना और नाटकों की सृष्टि होने लगी।

चीनी-नाटकों का आदर्श खूब ऊँचा है। कहा जाता है, प्रत्येक नाटक शिक्षा-प्रद और भाव-पूर्ण होना चाहिए। जो नाटककार अश्लील अथवा अनाचार-द्योतक नाटकों की रचना करता है, वह दंडनीय है। लोगों का यह विश्वास है कि जब तक ऐसे नाटक पृथ्वी पर खेले जायँगे, तब तक मृत्यु के बाद भी नाटककार को नरक-यंत्रणा भोगनी पड़ेगी। चीनी-नाटकों में संयोगांत और वियोगांत नाटकों का भेद नहीं है। वहाँ नाटकों के बारह भेद बतलाए गए हैं। धार्मिक नाटकों का स्थान सबसे ऊँचा है। ऐतिहासिक नाटकों का भी अभाव नहीं है, यद्यपि वहाँ यह कानून बना दिया गया है कि सम्राट्, सम्राज्ञी, राजकुमार और सचिवों का समावेश नाटकों में नहीं किया जाना चाहिए।

चीनी-नाटक इतिहास, प्राचीन कथा और उपन्यासों से ही तैयार किए जाते हैं। आधुनिक नाटकों का प्रचार वहाँ अभी हाल ही में हुआ है। परन्तु इन नाटकों को वहाँ वैसी सफलता नहीं प्राप्त हुई, जैसी कि प्राचीन नाटकों को। सच पूछो, तो आधुनिक

नाटक प्राचीन नाटकों के समान न तो चित्ताकर्षक ही हैं, और न शिक्षा-प्रद ही। अमेरिका में जिन्होंने शेक्सपियर के नाटकों के खेल देखे हैं, वे शायद आधुनिक नाटकों का खेल पसन्द नहीं करेंगे।

नाटकों का उद्देश सिर्फ़ मनोरंजन ही नहीं है। उनका लक्ष्य यह भी है कि समाज की दशा उन्नत की जाय। जिन नाटकों में यह बात नहीं है, वे व्यर्थ तो हैं ही, उनसे हानि होने की भी सम्भावना है। चीन वाले ऐसे नाटक देख ही नहीं सकते, जिनमें मानवजीवन का बुरा चित्र हो। हाँ, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि नाटककार का उद्देश अच्छा है, वह इससे शिक्षा देना चाहता है, तो वे भले ही ऐसे नाटक देख लें। उन्हें दूसरों की दिल्लगी उड़ाना अथवा उन पर अन्याय-युक्त कटाक्ष करना ज़रा भी पसन्द नहीं।

इसी लिये वहाँ निम्न श्रेणी के नाटकों का प्रचार नहीं है। चीन के नट और नटी भी ऐसे नाटकों में शामिल नहीं होते। इससे उनकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। वहाँ के नटों में यह भाव इतना प्रबल है कि यदि किसी मैनेजर ने ऐसे नाटकों में अभिनय करने के लिये प्रार्थना की, तो वे उसे अपमान सूचक समझते हैं। जितना उन्हें अपने कर्तव्य के गौरव का ख्याल है, उतना अन्य देश के किसी भी नट को नहीं।

आजकल चीन में लैंग-फ़ाँग नाम के नट की बड़ी प्रसिद्धि है। दस साल पहले उसका नाम भी कोई नहीं जानता था। परन्तु आजकल उसकी उतनी ही ख्याति है, जितनी मेरी फ़िकफ़ोर्ड की

तारीफ़ है। लैंग-फ्रॉंग स्त्री नहीं, पुरुष है। तो भी वह स्त्री का अभिनय इस खूबी से करता है कि लोग देखकर दंग हो जाते हैं। उसका स्वर बहुत ही मधुर है। उसके अभिनय में ज़रा भी कृत्रिमता नहीं जान पड़ती। सबसे बड़ी बात यह है कि वह जिस पात्र का अभिनय करता है, उसी में बिलकुल तल्लीन हो जाता है। वह बीस नाटकों में पार्ट लेता है। सभी में वह स्त्री का ही अभिनय करता है। इन नाटकों में से उसे दो बहुत पसन्द हैं। एक का नाम है 'पुष्पविसर्जन', और दूसरे का 'स्वयंसेवक'। 'पुष्पविसर्जन' एक उपन्यास से लिखा गया है। वह उपन्यास चौबीस जिल्दों में समाप्त हुआ है, और उसमें १२० अध्याय हैं। उसकी रचना २०० वर्ष पहले किसी लेखक ने की थी। लेखक का नाम अज्ञात है। चीन के श्रेष्ठ उपन्यासों में उसकी गणना है। 'पुष्पविसर्जन' की कथा हृदयग्राही है। उसकी एक कविता का भाव कितना मधुर है—

"फूल मुरझाते और उड़ जाते हैं, और उड़ते हुए आकाश को व्याप्त कर लेते हैं। उसकी कली नष्ट और सुगन्ध लुप्त हो जाती है ; पर उनके लिये कौन शोक करता है ?"

स्वयं-सेवक की कथा यह है कि जब तातारों ने चीन पर आक्रमण किया, तब एक लड़की पुरुष का वेष धारण कर चीनी सेना में भर्ती हो गई। युद्ध-भूमि में उसने बड़ी वीरता दिखलाई। अन्त में वह सेनापति बना दी गई। जब वह विजय प्राप्त करके लौटी, तब सम्राट् ने उसकी अभ्यर्थना करनी चाही। परन्तु सम्राट से प्रार्थना कर वह घर लौट गई, और वहीं अपने असली रूप में प्रकट हुई।

जापान के नाटक—जापान के नाटकों के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक नो और दूसरा काबुकी। नो-नाटकों को हम साहित्यिक नाटक कह सकते हैं, और काबुकी को लौकिक। इन दोनों तरह के नाटकों में जापानियों की विशेषता लक्षित होती है। पाश्चात्य विद्वानों की राय है कि ग्रीक-साहित्य के वियोगांत नाटकों के मूलस्वरूप से जापान के साहित्यिक नाटकों का बहुत कुछ सादृश्य है। कुछ बातों में भिन्नता अवश्य है, तो भी इन दोनों की परस्पर समता देखकर आश्चर्य होता है। सम्भव है, यदि कोई भारतीय विद्वान् इन नाटकों के साथ संस्कृत के नाटकों की तुलना करे, तो वह और भी अधिक समता देखे ; क्योंकि संस्कृत-नाटकों की तरह इनमें भी गद्य-पद्य का मिश्रण है, और यत्र-तत्र कुछ गान भी हैं। नो-नाटकों का सम्बन्ध जनता से उतना नहीं, जितना कि उच्च श्रेणी के लोगों से है। कदाचित् ऐसे नाटकों के लेखकों की यही धारणा थी कि "आपरितोषात् विदुषां" प्रयोग-विज्ञान की सार्थकता नहीं है। काबुकी-नाटक सर्वसाधारण के लिये हैं। विद्वानों की राय है कि नो-नाटकों के अभिनय की व्यवस्था उच्च श्रेणी के ही लोग करते थे, परन्तु उनका खेल सर्वसाधारण के ही सामने किया जाता था। इन नाटकों में धार्मिक भावों की प्रधानता है। बौद्ध-धर्म ही इनका प्राण है। कुछ समय पहले लोगों का यह विश्वास था कि बौद्ध-पुरोहितों ने ही इनकी रचना की है। परन्तु यह बात नहीं है। एक तरह से अभिनेता ही इनके लेखक माने जा सकते हैं।

यह देखा गया है कि सभी देशों की प्रचलित प्राचीन गाथाओं में समता है। एक विद्वान् ने अभिज्ञान-शाकुन्तल की कथा से बिलकुल मिलती-जुलती एक कथा ग्रीक-साहित्य से उद्धृत की थी। जापानी नाटकों में हम हेमलेट, मार्लेन, एंड्रोमेडास, अथवा हारूँ-रशीद को जापानी वेश में देख सकते हैं। उनकी बातें भी वे ही हैं, और काम भी वैसे ही। जो भिन्नता है, वह देश और काल के कारण। बात यह है कि देश और काल के व्यवधान से विभक्त हो जाने पर भी मानव-जाति एक ही है, और उसकी मूल भावनाएँ सर्वत्र एक ही रूप में विद्यमान रहतीहैं। अतएव जिन कथाओं में मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है, उनमें परस्पर भिन्नता कैसे हो सकती है ? हेमलेट शेक्सपियर के द्वारा डेनमार्क का राजकुमार बनाए जाने पर भी मनुष्यत्व के कुछ विशेष गुणों से युक्त एक व्यक्ति-मात्र है, जिसका अस्तित्व सभी देशों और सभी कालों में सम्भव है। एक विशेष स्थिति में रहने से कोई भी मनुष्य हेमलेट हो सकता है।

काबुकी-नाटकों की अपेक्षा नो-नाटक अधिक प्राचीन हैं। कोई तीन सौ साल पहले काबुकी-नाटकों की सृष्टि हुई है। आरम्भ से ही ये नाटक बड़े लोकप्रिय हुए, और अपनी लोकप्रियता के कारण ही विद्वानों की दृष्टि में हेय हो गए। विद्वानों ने नो-नाटकों को अपना लिया, और काबुकी-नाटक अशिक्षित जनता के ही उपयुक्त समझे गए। काबुकी-नाटकों का प्रचार बढ़ता ही गया। इधर विद्वानों की घृणा भी उन पर बढ़ती गई। इन नाटकों के अभिनय में पहले स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं।

परन्तु इस से अनाचार फैलने की सम्भावना देखकर यह आज्ञा प्रचलित की गई कि स्त्रियाँ अभिनय कर ही नहीं सकतीं। तब पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करने लगे। ऐसे नटों से भी काबुकी-नाटकों का प्रचार बढ़ता ही गया। तब उच्च श्रेणी के लोगों ने इन नाटकों को नष्ट करना ही उचित समझा। ये नट बड़े नीच समझे जाने लगे। उनकी गणना दुराचारियों में की जाती थी। वे दण्ड-नीय भी थे। यह सब होने पर भी जनता इन नटों को आश्रय देती थी, और ये अपनी कला की उन्नति ही करते थे। जब जापान का संपर्क पाश्चात्य देशों से हुआ, तब जापान के शासक-वर्ग ने देखा कि पाश्चात्य देशों में नाट्य-कला का बड़ा आदर है, और नट बड़े प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। तब नाटकों पर से जापान के शासकों की घृणा कम होने लगी। स्वयं सम्राट् मेजी ने एक अभिनय देखा। उस समय अमेरिका और योरप के कितने ही विद्वान उपस्थित थे। उन्होंने जापानी नाट्य-कला की बड़ी प्रशंसा की। तब से जापान के विद्वानों ने इन नाटकों की ओर ध्यान दिया है। नटों पर से अभी तक उनकी अश्रद्धा बिलकुल ही नहीं हट गई है। टोकियो का इंपीरियल थिएटर खूब अच्छा बना है। यहाँ जापानी नाटक तो खेले ही जाते हैं, योरप और अमेरिका की भी कम्पनियाँ आकर अपने खेल दिखलाती हैं। अभी तक जापान के वर्तमान सम्राट् और राजकुमार कभी किसी नाटक को देखने के लिये नहीं गए। जब जापान के राजकुमार लंदन गए थे, तब उन्हों-ने अवश्य वहाँ अभिनय देखे। पेरिस में उन्होंने एक अमेरिकन नट का आदर भी खूब किया। परन्तु जापान की किसी भी नाट्य-

शाला अथवा नट का आदर नहीं किया गया। प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर जापान के सम्राट् और राजकुमार नाटक देखने गए थे। इस से आशा की जा सकती है कि अब वहाँ नाटकों का अधिक आदर होने लगेगा, और नाट्य-कला की उन्नति भी अच्छी होगी।

अङ्गरेज़ी नाटक—इँगलैंड में नाटकों का प्राचीनतम रूप हमें वहाँ के मिस्ट्री (Mystery) और मिराकिल (Miracle)-नाटकों में मिलता है। इन नाटकों का विषय धार्मिक है। बाइबिल अथवा किसी महात्मा की दन्त-कथाओं के आधार पर इनकी रचना होती थी। भारतवर्ष में इन्हीं के जोड़ के नाटक ताड़-पत्र पर लिखे हुए पाए गए हैं। इन नाटकों के रचयिता महाकवि अश्वघोष माने गए हैं। इनमें बुद्धि, धृति, कीर्ति आदि सद्गुणों को और बुद्ध, मौद्गलायन, कौंडिन्य आदि महात्माओं को रंगभूमि में अवतीर्ण होना पड़ा है। इँगलैंड में ऐसे नाटकों में हास्य-रस का भी समावेश किया गया है। इन्हीं के आधार पर आधुनिक नाटकों की रचना हुई है, अथवा यह कहना चाहिए कि इनसे ही आधुनिक नाटकों का विकास हुआ है। सन् १५६० से सन् १५८० तक नाटकों का शैशव काल था। इस समय जो नाटक बने, वे प्रायः एक ही साँचे में ढले रहते थे। सन् १५७६ से नाटक नाट्यशाला में खेले जाने लगे। सन् १५७४ में अर्ल आफ़ लिस्टर के नौकरों को इँगलैंड के सभी नगरों में नाटक खेलने का अधिकार मिल गया, और १५७६ में उन्होंने ब्लैक-फ़्रायर्स थिएटर (Blackfriars

Theatre) की स्थापना की। सन् १५८० से सन् १५६६ तक नाटक और नाट्यशालाओं की उन्नति बराबर होती रही। इस काल के नाटककारों में-लिली, पनी, ग्रीन, लाॅज, मारलो आदि थे। इँगलैंड के जगद्विख्यात नाटककार शेक्सपियर का भी आविर्भाव हो गया था। शेक्सपियर ने नाटकों को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। शेक्सपियर सिर्फ़ नाटककार ही नहीं था, वह नट भी था। इसलिये नाट्यकला में भी अच्छी उन्नति हुई। सन् १५६६ में ग्लोब-थिएटर स्थापित हुआ। उस समय के थिएटरों और आजकल के थिएटरों में आकाश-पाताल का अंतर हो गया है। आजकल तो रंगभूमि में सभी तरह के दृश्य दिखलाए जा सकते हैं। पर तब कहाँ ऐसे दृश्य और ऐसे परदे थे। दर्शकों को नाटक के अधिकांश दृश्य अपनी कल्पना से ही देखने पड़ते थे। शेक्सपियर के बाद नाटकों की अवनति होने लगी। प्रथम चार्ल्स के समय में, इँगलैंड में, राजविप्लव हुआ। तब नाटक और नाट्य-कला को बड़ा आघात पहुँचा। थिएटर तो सभी बंद हो गए। उस समय लोग ऐसे आमोद-प्रमोदों को चरित्र-दूषक समझते थे। इसके बाद चार्ल्स द्वितीय का ज़माना आया। नाटकों में तत्कालीन समाज के अनाचार ने प्रवेश किया। इसी समय पहले-पहल रंगमंच पर नटियाँ आईं। इस समय इँगलैंड के नाट्य-साहित्य पर फ़्रांस के नाटककारों का खूब प्रभाव पड़ा। कार्नील, रेशीन और मोलियर के नाटकों के अनुवाद, छायानुवाद, भावानुवाद आदि खूब निकले। ड्राइडन नाम के कवि ने अँगरेज़ी-नाटकों में मौलिकता अवश्य पैदा की। इसके

बाद जितने नाटक-कार हुए, उनमें गोल्डस्मिथ और शेरीडन ने ख्याति प्राप्त की। इनके बाद अँगरेज़ी के आधुनिक नाट्य-साहित्य का आरंभ होता है।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में, नेपोलियन का पतन होने पर, इँगलैंड की प्रभुता अच्छी तरह स्थापित हो गई। इसके बाद उसने अपने व्यवसाय और वाणिज्य में बड़ी तरक्की की। व्यापार का केंद्रस्थल हैं नगर। इस लिये नगरों की जन-संख्या खूब बढ़ने लगी।

नगरों में जन-संख्या की वृद्धि के साथ-ही-साथ नाट्यशालाओं की भी वृद्धि होने लगी। अभी तक नाटकघर सिर्फ़ मनोरंजन के स्थान थे। वहाँ प्राय: ऐसे ही धनिक जाया करते थे, जो निठल्ले बैठे समय बिताया करते थे, परंतु अब नगर में रहनेवाले साधारण स्थिति के लोग और मज़दूर भी नाटकघर जाने लगे। दिन-भर काम करने के बाद आधी घड़ी यदि मनुष्य अपना मन न बहलावे, तो उसका शरीर कैसे टिक सकता है ? मन बहलाने का सब से अच्छा स्थान नगरों में नाटक घर ही है। इसीलिये, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, नाटक और नाट्य-कला की खूब उन्नति हुई।

आधुनिक नाट्य-साहित्य के पहले मौलिक नाटककार टी० डब्ल्यू० राबर्टसन (१८२९-१८७१) थे। उनके नाटक प्रिंस आफ़ वेल्स-थिएटर में खेले जाते थे। अँगरेज़ी में नाटकों के दो भेद हैं, कामेडी और ट्रेजिडी। राबर्टसन ने कामेडी-नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की। प्रिंस आफ़ वेल्स-थिएटर के अध्यक्ष थे बेनक्राफ्ट

साहब। उन्होंने नाट्यशाला में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया। बेनक्राफ्ट साहब का जन्म सन् १८४१ में हुआ था। सन् १८६५ में उन्होंने प्रिंस आफ वेल्स-थिएटर की स्थापना की। उसने नाट्य-कला में परिवर्तन कर दिया। १८६७ में उन्हें 'सर' की उपाधि मिली।

इसी समय लीसियम (Lyceum)-थिएटर में इँगलैंड का प्रसिद्ध नट हेनरी इरविंग रंगमंच पर आया। वह सन् १८७८ से १८६६ तक लीसियम का प्रबंध करता रहा। उसकी बड़ी कीर्ति हुई। सन् १२७४ में हेमलेट का पार्ट उसने बड़ी खूबी से खेला। शेक्सपियर के प्रसिद्ध मर्चेंट आफ् वेनिस नाटक में वह शाइलाक का पार्ट लेता था। इसमें भी वह कमाल करता था। उसने नटों की अच्छी स्थिति कर दी। उसके पहले लोग नटों का सम्मान नहीं करते थे। उनका पेशा भी नीच समझा जाता था। पर इरविंग की सब लोगों ने इज़्ज़त की। सन् १८६५ में वह नाइट बनाया गया। नटों में उसको सबसे पहले यह उपाधि मिली।

इस समय इँगलैंड में अच्छे-अच्छे कवि हुए। उन्होंने नाटक भी लिखे। परन्तु उनके नाटकों को रंगभूमि पर अच्छी सफलता नहीं हुई। मैकरेडी ने प्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग के स्टेफ़ोर्ड-नामक नाटक के लिये बड़ी तैयारी की। पर वह पाँच रात से अधिक नहीं चला। टेनिसन के दी कप ऐंड बैकट-नामक नाटकों को इरविंग ने खेला। पर उसे भी कुछ सफलता नहीं हुई। इसीलिये फ्रेंच नाटकों के ही आधार पर अँगरेज़ी में नाटक खेले जाते थे। सन् १८८१ में ए० डब्ल्यू० फ़िनरो साहब का नाटक खेला गया। उसका कुछ

आदर हुआ। फिर तो उनके कई नाटक खेले गए, और सभी में उसे सफलता प्राप्त हुई। नाट्य-साहित्य में उसका अच्छा स्थान होगया।

अब हम एक बार तत्कालीन नाट्यशालाओं पर भी दृष्टि डालेंगे। यह तो हम कह आए हैं कि बेनक्राफ़ ने नाट्यशाला की अच्छी उन्नति की थी। उसने दर्शकों के लिये नाटकघर को सभी तरह से मनोमोहक कर दिया था। हाफ़ गिनी स्टाल खोल देने से बड़े-बड़े लोग भी थिएटर में आने लगे। गत पचीस वर्षों से नाट्य-शाला सभ्यता का एक प्रधान अंग हो गई है। जो लोग नाट्य-शाला को अपनी जीविका का द्वार समझते हैं, वे तो अभिनय करते ही हैं, किंतु जो श्रीमान् हैं, प्रतिष्ठित हैं, कुलीन हैं, वे भी अपने मनो-विनोद के अभिनय किया करते हैं। कई अर्ल, काउंटेस, मार्कीस आदि संभ्रांत स्त्री-पुरुषों ने अभिनय-कला में अच्छी पार-दर्शिता दिखलाई है। इँगलैंड के राजपरिवार में भी दो-एक ऐसे हैं, जो अभिनयकला में निपुण हैं। प्रिंसेस लुई, डचेज़ आफ़ आर-गाइल में उच्च कोटि की अभिनय-योग्यता है। अर्ल आफ़ यार-माउथ ने तो अमेरिका में जाकर अभिनय किया था। काउंटेस आफ़ वेस्ट मूरलैंड भी अच्छी अभिनेत्री हैं।

नाटकों में ऐसे-ऐसे लोगों के योग देने से वहाँ अब कुछ दूसरी ही छटा आ गई है। वहाँ भव्य भवन, विशाल रंगभूमि आह्लाद-कारक संगीत, आश्चर्य-जनक दृश्य और चित्ताकर्षक अभिनय देख लीजिए। सच तो यह है कि योरप की विलासिता उसके नाटकघरों में ही अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है। दर्शकों के आराम के लिये सभी तरह की सुविधाएँ रहती हैं।

इधर नाट्य-कला का रूप पलटा, उधर नाटकों के आदर्श भी बदले। नाट्य-साहित्य में हलचल पैदा कर देनेवाले हेनरिक इब्सन का जन्म सन् १८२८ में हुआ था। उसने रंगभूमि पर मनुष्यों के अंधकारमय जीवन का दृश्य दिखलाया। जर्मनी और फ्रांस में उसके नाटक पहले ही खेले जा चुके थे। पर इंगलैंड में, सन् १८८९ में, उसका नाटक पहले-पहल खेला गया। तब उसके नाटकों की बड़ी तीव्र आलोचनाएँ हुईं। परन्तु उसका सिक्का जम ही गया। इँगलैंड के वर्तमान नाटककार बर्नार्ड शा इब्सन के ही अनुयायी हैं।

शा की माता ने एक आइरिश नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया था। इसलिये शा को बाल्यकाल में ही संगीत और नाट्य-कला से प्रेम हो गया। २० वर्ष की अवस्था में वह लन्दन आए थे। उस समय इँगलैंड के सामाजिक जीवन पर रस्किन और विलियम मॉरिस का खूब प्रभाव था। सभी कला-कोविद समाज-सुधारक हो गए थे। सर्वत्र 'सौंदर्य' और 'सरल-जीवन' की चर्चा हो रही थी। शा ने भी समाज-सुधार को अपने जीवन का प्रधान उद्देश्य समझा। सबसे पहले उन्हों ने व्याख्यान देने का अभ्यास किया। इससे उनको यह लाभ हुआ कि उनके गद्य की शैली निश्चित हो गई। सन् १८८५ में शा ने सामयिक पत्रों में लेख देना आरम्भ किया। 'वर्ल्ड', 'स्टार' और 'सैटरडे-रिव्यू' में वह संगीत-कला और नाटकों की समालोचना किया करते थे। उनका कथन है—"नाट्यशाला का वही महत्व है, जो मध्य-युग में चर्च का था। वह विचारों को उत्पन्न करती, विवेक को स्फूर्ति

देती, आचरण को विशद करती, निराशा और उत्साह-हीनता को दूर करती और मनुष्यों को उन्नति का पथ बतलाती है।"
सन् १८७८ में उन्होंने नाटक लिखना आरम्भ किया। उसी साल उनका 'Plays pleasant and unpleasant' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उससे लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। उनका एक नाटक 'Mrs. Warren's Profession' रंगस्थल पर अयोग्य ठहराया गया। शा को सभी दुर्गुणों से घृणा थी; परन्तु वह यह चाहते थे कि समाज अपने दुर्गुण देख ले; तभी वह अपना सुधार कर सकता है। परन्तु समाज अपने दुर्गुणों का प्रदर्शन नहीं चाहता था। वह चाहता था सिर्फ़ मनोविनोद। इस लिये शा ने अपने नाटकों में मनोरंजन की काफी सामग्री रक्खी। 'Man and superman' में उन्होंने लिखा है—"मुझे अपने नाटक को चित्ताकर्षक बनाना होगा; पर सिर्फ मनोरंजन के लिये मैं एक भी वाक्य लिखने का श्रम नहीं उठाऊँगा।" आजकल तो बर्नार्ड शा की बड़ी ख्याति है।

आस्कर-वाइल्ड को भी पहले-पहल अपने सभी नाटकों के लिये बड़ा दुःख भोगना पड़ा। उनके सभी नाटकों की निन्दा हुई। परन्तु रंगभूमि पर सभी नाटक सफलता-पूर्वक खेले गए। उस समय लोगों को प्रशंसा करनी ही पड़ी। पर बाद को लोगों ने उन पर कठोर आक्षेप किये। सन् १८९२ में, पैलेस-थिएटर में, उनके एक नाटक (Salane) की रिहर्सल हो रही थी। तब सेन्सर (Censor) ने उसे बन्द करा दिया। जब वह सन्

१८९३ में प्रकाशित हुआ, तब उसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। सन् १८९६ में जब वाइल्ड कैद में थे, उनका सालोमे-नामक नाटक बड़ी सफलता के साथ पेरिस में खेला गया। सन् १९०१ में, बर्लिन में, उसका अभिनय हुआ। तब से युरोप की रंगभूमि में उनके नाटक बराबर खेले जा रहे हैं। अब तो अमेरिका और एशिया में भी उनका प्रचार हो रहा है। इँगलैंड में, सन् १९०५ में, न्यू स्टेज-क्लब ने उनके इसी नाटक को खेला। तब दर्शकों ने उसे ध्यान से देखा।

मैटरलिंक के नाटक--युरोप के नाट्य-साहित्य पर बेल्जियम के विख्यात कवि मारिस मैटरलिंक के नाटकों का भी खूब प्रभाव पड़ रहा है। इनका कुछ निराला ही रंग है। इन्होंने मनुष्यों की आध्यात्मिकता पर अधिक ज़ोर दिया है। इनका जन्म सन् १८६२ में हुआ था। सन् १८९० से इनकी कीर्ति फैलने लगी। सन १८९१ में इनका एक एकांक नाटक खेला गया। सन १८९३ में इनका पेलीयास और मेलीसौंडा नाम का नाटक अभिनीत हुआ।

आधुनिक नाटककारों में डब्ल्यू० बी० येट्स का भी अच्छा नाम है। भारतवर्ष के कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी नाटकों का अभिनय इँगलैंड में होने लगा है। गत ४ मई सन १९२० को प्रिंस आफ-वेल्स थिएटर में उनके चित्र और (Sacrifice) सक्रीफ़ाइस-नामक नाटकों का अभिनय हुआ था। नाटक दृश्य-काव्य है, अतएव उत्तम वही कहा जा सकता है,

जो रंगभूमि पर अच्छी तरह खेला जा सके। परन्तु अब आधुनिक साहित्य में नाटकों के दो भेद कर दिए गए हैं। कुछ नाटक तो खेले जाने ही के लिए लिखे जाते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी नाटक होते हैं, जो श्रव्य काव्य कहे जाते हैं। अँगरेज़ी में उन्हें काव्यमय नाटक (Poetic Drama) कहते हैं। परन्तु उनमें वह विशेषता नहीं रहती, जिससे नाटक रंगमंच पर सफलता-पूर्वक खेला जा सकता है। टेनिसन के नाटक इसी कोटि के हैं। भवभूति के नाटकों में भी कवित्व की छटा अधिक है। उन्हें पढ़ने से जो आनन्द आता है, वह देखने से नहीं। यहाँ हम काव्य की दृष्टि से भी नाटकों पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि वह मानव-जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परन्तु यह विशेषता सिर्फ़ नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास--तीनों में ही मानव-चरित्र का चित्रण रहता है। पर इनमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्य में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परन्तु उनमें चरित्र-चित्रण गौण रहता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इन्दुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिये है, वैसे ही अन्य किसी भी प्रेमिक के लिये उपयुक्त हो सकता है। प्रिय जन

के वियोग से जो व्यथा होती है, उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश्य था। इंदुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसी का वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास, दोनों की विशेषताएँ रहती हैं। उसमें कवित्व भी होना चाहिए, और मनोहरता भी। इसके लिये कुछ नियम बनाए गए हैं। सबसे पहला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिए। उसी को परिस्फुट करने के लिये उसमें अन्य घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिये। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है, तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अन्त होना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनाएँ नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परन्तु उससे उनका सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वाभाविकता देखना चाहते हैं, उन्हें कदाचित् अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार-इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिन्दू-नाटकों में अलौकिक घटनाएँ वर्णित हैं। उदाहरण के लिये कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तलम् को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यंत का स्मृति-भ्रम, शकुन्तला का अंतर्धान होना, दुष्यंत का स्वर्गारोहण, ये

सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिन्दू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिये अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है–'There is a tide in the affairs of men' अर्थात् मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है, और फिर निष्फलता के खंदक में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन-स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों

के अंतःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी-कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर-रामचरित में, रामचन्द्र के दृश्य में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अंतर्द्वंद्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है, और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इब्सन के एक नाटक —An Enemy of the People—में एक मनुष्य संसार की कल्याण-कामना से संसार के ही विरुद्ध लड़ा है। पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किए गए हैं। ट्रेजेडी और कामेडी। ट्रेजेडी दुःखांत नाटक को कहते हैं, और कामेडी सुखांत को। प्राचीन हिंदू-साहित्य में दुःखांत नाटक एक भी नहीं है। हिन्दू नाट्य-शास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अंत दुःख में न होना चाहिए। यदि नायक पुण्यात्मा है, तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिए। अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते ; क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय देखी जाती है। यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अन्तिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायँ, तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म का अनुसरण करते हैं, सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का

आलिंगन करते हैं, और असत्पथ पर विचरण करने वाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिये धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं ; क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं, कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म की पराजय बतलाने से उसकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र्य की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखांत नाटकों की रचना होने लगी है। इसमें सन्देह नहीं कि कमेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिये नाट्यशालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलता-पूर्वक हो सकता है। परन्तु आजकल दुःखांत नाटकों का प्रचार कम हो गया है। कुछ समय पहले इँगलैंड में म्यूज़िकल कमेडी का, जिसमें हँसी-दिल्लगी और नाच-गान की प्रधानता रहती है, खूब दौरदौरा रहा। अब भी उसका अच्छा स्थान ही है।

हिन्दू-साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है। इससे नाटककार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किन्तु हिन्दू-साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अंकित करने का जो विधान है, उसका एक-मात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-नाटकों में

राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाए गए हैं। नायकों के चार भेद किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीर-प्रशांत। इन नायकों में भिन्न-भिन्न गुणों का प्रदर्शन कराया जाता है। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मज़दूर, क़ैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अब नाटकों में व्यक्तित्व-प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

आधुनिक नाट्य-साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्तमान साहित्य के आदर्श से उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। कुछ विद्वानों का कथन है कि आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में रोमेंटिक युग का अन्त हो गया, और अब रियलिस्टिक साहित्य का आरम्भ हुआ है। योरप के आधुनिक साहित्य में तीन आदर्श स्वीकृत हुए हैं—रियलिस्ट, आइडियलिस्ट और रोमेंटिसिस्ट। पहले हम इनका मतलब बतला देना चाहते हैं। संसार में जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकों की रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है, मानो हमने यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किन्तु उसके पात्रों के चरित्र में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख लेते हैं। ऐसे लेखकों में ज़ोला-नामक एक फ्रेंच लेखक का स्थान सर्वोच्च माना गया है। आइडियलिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्भावन की चेष्टा करते हैं। संसार की घटनाओं में वे भाव का

ऐसा समावेश करते हैं कि उससे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकों की कल्पना पर प्रभाव डालता है। वे अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते। वे संसार की दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिये सामग्री का संग्रह करते हैं। परन्तु उनकी कृति में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि पाठक उसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा करें। पाठकों के मन में यही बात उदित होती है कि हमने ऐसा देखा नहीं है, परन्तु देखना अवश्य चाहते हैं। विक्टर ह्यूगो इसी श्रेणी के लेखक हैं। रोमेंटिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। वह प्रकृति से अतीत है। बैल्ज़क की रचना में कल्पना की ऐसी ही लीला दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक नाट्य-साहित्य में समाज के यथार्थ चित्रण का खूब ख्याल रक्खा जाता है। ऐसे नाटकों का आरम्भ इब्सन ने किया है। उनमें सामाजिक जीवन का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तो भी उनमें समाज के भविष्य विकास का आभास पाया जाता है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि आधुनिक साहित्य में रियलिज़्म की प्रधानता है, उनकी बात स्वीकार नहीं की जासकती। बातयह है कि जिस प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीय जीवन भूत, भविष्य और वर्तमान को एकत्र कर अग्रसर हो रहा है, जिस प्रकार वह अतीत को वर्तमान में संजीवित करके उसको भविष्य की ओर ठेल रहा है, उसी प्रकार साहित्य में भी सभी आदर्शों को एकत्र करने की चेष्टा की जा रही है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश यही जान पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा करके समाज के साथ उसका

सम्बन्ध स्थापित कर दें। वर्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर परदा डालने की चेष्टा अवश्य नहीं की जाती; पर उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह ज्योतिर्मय किस प्रकार हो सकता है।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल में आवद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं हो गए हैं। उनमें यथेष्ट स्वतन्त्रता आ गई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परन्तु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें 'रोमियो-जूलियट' अथवा 'एंटोनी-क्लियापेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौंदर्य-वृत्ति है जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान सरल नहीं है, वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम एंड पनिशमेंट-नामक उपन्यास में एक खूनी का चरित्र अंकित किया गया है। अन्त तक यह नहीं जान पड़ता कि वह खूनी दानव है कि देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें, तो भी उसमें हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जॉर्ज मेरेडिथ के 'दी इगोइस्ट'-नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका, और न

उसके साथी ही। उपन्यास-भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवींद्र बाबू के 'घरे-बाहिरे'-नामक उपन्यास में संदीप जैसा इन्द्रियपरायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटरलिंक अथवा रवींद्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं ; परन्तु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

वर्तमान युग को विद्वान लोग 'डिमाक्रेटिक' लोक-तन्त्र का युग कहते हैं। सर्वत्र सभी विषयों की नाना प्रकार से परीक्षा हो रही है। आजकल जैसे सामाजिक और राष्ट्रीय तत्व साहित्य में स्थान पा रहे हैं, वैसे ही वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्व भी साहित्य के अंगीभूत हो रहे हैं। अब रस और तत्व का सम्मिलन हो गया है। गेटी और शिलर ने अपने समय में तत्वों को कला के रस-रूप में परिणत किया था। अन्य युगों की अपेक्षा वर्तमान युग में साहित्य का अधिकार-क्षेत्र बढ़ गया है। आधुनिक साहित्य में आध्यात्मिक काव्य, नाटक और उपन्यासों की रचना से यही बात प्रकट होती है।

आजकल इँगलैंड के नाट्य-साहित्य की जैसी गति है, उसे भली भाँति समझने के लिये हमें महायुद्ध के कुछ समय के पहले के साहित्य पर ध्यान देना चाहिए। युद्ध आरम्भ होने के ठीक पहले, चार-पाँच वर्ष तक, इँगलैण्ड का साहित्य और कला-कौशल

स्थिगत हो गया था। सन् १६१४ में अँगरेजी नाट्यकारों में ऐसे भी साहित्यसेवी थे, जिन्होंने साहित्य के सभी भागों को आयत्त कर लिया था। उनमें सबसे अधिक ख्याति बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) की थी। इसका मतलब यह नहीं कि बर्नार्ड की व्यंग्योक्ति में हम तत्कालीन अँगरेज़ों की रुचि देख सकते हैं, तो भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि युद्ध के पहले यदि कभी कोई भी छः नाटककारों का उल्लेख किया जाता, तो उनमें बर्नार्ड शा का नाम अवश्य लिया जाता।

इसमें सन्देह नहीं कि सर जेम्स बेरी, सर आर्थर पेनेरो, हेनरी आर्थर जोंस, अल्फ्रेड सट्रो और जेरोम आदि का भी अच्छा नाम था। पर यह भी सच है कि बर्नार्ड शा ने भावात्मक नाटकों की सृष्टि करके इन लोगों की कीर्ति-कौमुदी को निष्प्रभ कर दिया। यह सभी स्वीकार करते हैं कि शा में 'पीटर मैन' के लेखक से अधिक निपुणता नहीं है। पर बात तो यह है कि नैपुण्य-प्रदर्शन न करने से ही बर्नार्ड शा इतने लोक-प्रिय हो गए। शा यथार्थ चित्रण (Realism) के पक्षपाती हैं। उनमें 'रोमांस' अर्थात् भावावेश की प्रधानता नहीं है।

बर्नार्ड शा के आते ही इँगलैण्ड की रंगभूमि पर मनोविज्ञान की छाया पड़ने लगी। समालोचक तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्याएँ हों, जिनका अन्तर्गत भाव देखने के लिये उन्हें छिन्न-भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिए, और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति खूब फैलाई। बर्नार्ड शा का नाम पहले-पहल उनके श्रव्य काव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने

दृश्य काव्यों की रचना में मन लगाया। युद्ध के पहले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिये १९१४ में, इँगलैंड में, एक ऐसी नाट्य-शाला स्थापित हुई, जिसमें मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। उसका अभी शैशव काल है, तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमें अधिक सजीवता आ गई है। युद्ध के पहले नाट्य-साहित्य का यही हाल था।

युद्ध का आरम्भ होते ही पहले तो कितनी ही नाट्यशालाएँ बन्द हो गईं। पर जब लोगों ने देखा कि युद्ध का अन्त अभी होनेवाला नहीं, तब फिर धड़ाधड़ नाटक-गृह खुलने लगे। लन्दन में जर्मनी के हवाई जहाज़ों का डर रहने पर भी चहल-पहल होने लगी। पर नाटकों का रूप बदल गया। युद्ध का पहला वर्ष भी समाप्त नहीं हुआ था कि प्रसिद्ध नाटककारों की कृतियों पर लोगों की श्रद्धा नहीं रही। रंगमंच पर उनके नाटकों का खेलना बन्द हो गया। तब ऐसे नाटकों की सृष्टि हुई, जिनमें दूषित विनोद की मात्रा अत्यधिक और सदाचार और सुरुचि का प्रायः अभाव था। इन खेलों को देखकर कुछ लोगों को अवश्य क्षोभ हुआ। पर उस समय इँगलैंड की जनता में खाकी की प्रधानता थी, और खाकी पोशाक पहनने वाले ये सैनिक ऐसे ही नाटक पसन्द करते थे। इसका कारण भी था। उस समय युद्ध का रूप अत्यन्त भयंकर हो गया था। सबके हृदयों में आशंका थी। इसी से अपनी चिन्ता दूर करने के लिये लोग नाटक देखने

जाया करते थे। इसलिये रंग-भूमि पर किसी प्रकार की गंभीरता अथवा चिन्ताशीलता उनके लिये असह्य थी। वे तो चाहते थे हँसी-मज़ाक, जिसमें लिप्त होकर घड़ी-भर वे अपनी-अपनी चिन्ता भूल जायँ।

अब युद्ध का अन्त हो गया है। पर अब भी शृंगार-रसात्मक नाटकों का प्रचार है। यदि यह सच है कि जनता की रुचि का प्रभाव नाट्यशालाओं पर पड़ता है, तो अभी कुछ समय तक अँगरेज़ी में अच्छे नाटक निकलने की आशा नहीं। युद्ध की भीषणता का अनुभव करके जन-साधारण की रुचि ऐसी होगई है कि सभी लोग कौतुकावह नाटक देखना पसन्द करते हैं।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय होते हैं। कालिदास का कथन है—"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।" अब तो नाटक, जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण, और भी अधिक लोक-प्रिय हो गए हैं। लन्दन आधुनिक सभ्यता का एक केन्द्र-स्थान है। वहाँ सैकड़ों नाट्यशालाएँ हैं। हज़ारों लोगों का जीवन-निर्वाह उन्हीं से होता है। सभी नाटकघर सभी समय भरे रहते हैं। कुछ ऐसी नाट्यशालाएँ हैं, जहाँ दिन और रात में दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं-कहीं तो एक ही नाटक दो-दो वर्ष तक खेला जाता है।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने-वाले नटों और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्च कुल के स्त्री-पुरुष भी नाट्य-कला में प्रवीणता प्राप्त

करने के लिये चेष्टा करते थे। उन्हें अभिनय-कला की शिक्षा देने के लिये योग्य शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। कालिदास के मालविकाग्नि-मित्र-नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला का पुनरुद्धार हो रहा है। महाराष्ट्र और बंगाल में अच्छी-अच्छी नाटक-मण्डलियाँ हैं, और उनमें अच्छे-अच्छे नाटक खेले जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं, तब यहाँ की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहाँ विदेशी दृश्यों की नक़ल तो ज़रूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढंगा रहता है कि योरप की छोटी-छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढंगी चीज़ें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिये परदे रंगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं। परन्तु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से सन्तुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय-नटों की वेष-भूषा। जो लोग राजा, सामन्त, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गए होंगे। हमें आशा है, भविष्य में भी कोई वैसी भद्दी पोशाक नहीं पहनेगा। ग़नीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिए भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगाकर निकलते हैं। हम नहीं

समझ सकते कि अपने चेहरे में सफ़ेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्व घट जाता और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों के दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाए जायँ। भारतीय रंगभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुनकर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना कर लें। प्राचीन काल में जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिये उचित वेष-भूषा तैयार करने के लिये विशेष योग्यता की ज़रूरत नहीं है। ज़रा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिये कौन-सा परिच्छद उपयुक्त है। परंतु आजकल तो सभी नाटक-मंडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहनाकर, भड़कीला कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नक़ली दाढ़ी और मूछ से चेहरे को विकृत करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें। परंतु सर स्कायर बैनक्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप में रंगमंच पर आने में नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेषताएँ हैं। यदि नाटककार और नट अपने अभिनय में भारतीयता का खयाल रक्खें, तो उससे बड़ा लाभ हो। रवींद्रनाथ का एक नाटक 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमें भारतीयता का खयाल रक्खा गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

हिंदी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौक़े-बे-मौक़े अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे, राजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने लग जाती हैं। राजसभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

Shikuntla

संस्कृत नाटक

—:o:—

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

दृश्य काव्य—नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देनेवाले को, वा स्वयं दृष्टि रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेषविन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने शाकुंतल में भ्रमर के आने पर शकुंतला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुंतलावेषसज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित् शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अंगभंगी और हाव-भाव का, तथा कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर

खचित कर देना ही दृश्यकाव्यत्व है। यदि श्रव्यकाव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रंथ में पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनंद होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम कुशीलवशास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं।

रूपक के भेद—नाटक शब्द की अर्थग्राहिता यदि रंगस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे। काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा—कठपुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी वा घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों को कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है यथा भाँड़, इंद्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्यमिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है। प्राचीन और नवीन—

प्राचीन समय में अभिनय नाट्य, नृत्य, नृत्त, तांडव और

लास्य इन पाँच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इससे केवल नाट्य में नाटक आदि का समावेश होगा; शेष चारों नाचनेवालों पर छोड़ दिए जायँगे। नाट्य रूपक और उपरूपक में दो भेदों से बँटा है। रूपक के दश भेद हैं। यथा—

१ नाटक--काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यंत) वा ईश्वरांश (जैसा श्रीराम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यंत उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण शाकुंतल, वेणीसंहार आदि।

२ प्रकरण—यह और बातों में नाटक के तुल्य होना चाहिए, किंतु इसका उपाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मंत्री, धनी वा ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मंत्रिकन्या, किसी के घर में आश्रित भाव से रहनेवाली, वा वेश्या हो। प्रथमावस्था में शुद्ध और द्वितीयावस्था में प्रकरण की संकर संज्ञा होती है। उदाहरण मल्लिकामारुत, मालतीमाधव और मृच्छकटिक।

३ भाण—भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा

उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है। उदाहरण "विषस्य विषमौषधम् ।"

४—**व्यायोग**—युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार वा वीर होना चाहिए। ग्रंथ नाटक की अपेक्षा छोटा। उदाहरण 'धनंजय विजय।'

५—**समवकार**—यह तीन अंक में हो। इसमें १२ तक नायक हो सकते हैं। कथा दैवी हो। छंद वैदिक हों। युद्ध, आश्चर्य माया इत्यादि इसमें दिखलाई जाती हैं। उदाहरण भाषा में नहीं है।

६ **डिम**—यह भी वैसा ही किंतु इसमें उपद्रव-दर्शन विशेष होता है। अंक चार, नायक देवता वा दैत्य वा अवतार। (उदाहरण नहीं)।

७ **ईहामृग**—चार अंक, नायक ईश्वर वा अवतार। नायिका देवी। प्रेम इत्यादि वर्णित होता है। नायिका द्वारा युद्धादि कार्य संपादन होता है। (उदाहरण नहीं)।

८ **अङ्क**—एक ही अंक में खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)।

९ **वीथी**—भाण की भाँति एक अंक में। इसमें दो पुरुष आकर बात कर सकते हैं और अपनी वार्त्ता में विविध भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे किंतु हँसाते जायँगे। (उदाहरण नहीं)।

१० प्रहसन—हास्य-रस का मुख्य खेल । नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो । इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है । यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किंतु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते । उदाहरण—हास्यार्णव, वैदिकी हिंसा, अंधेर नगरी ।

महानाटक—नाटक के लक्षणों से पूर्ण ग्रंथ यदि दश अंकों में पूर्ण हो तो उसको महानाटक कहते हैं ।

उपरूपक के भेद—उपरूपक के अठारह भेद हैं । यथा नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित (श्रीरासिका) शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका ।

नाटिका—नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होनी है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व-प्रणयिनी के वश में रहती है । उदाहरण—रत्नावली, चंद्रावली इत्यादि ।

त्रोटक—इसमें सात, आठ, नौ या पाँच अंक होते हैं और प्रायः प्रति अंक में विदूषक होता है । नायक दिव्य मनुष्य होता है । उदाहरण—विक्रमोर्वशी ।

गोष्ठी—नौ या दस साधारण मनुष्य और पाँच-छः स्त्री जिसमें हों और कैशिकी वृत्ति तथा एक ही अंक हो । (उदाहरण नहीं) ।

सट्टक—जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कंभक जिसमें न हों और शेष सब नाटिका की भाँति हो वह सट्टक है। उदाहरण—कर्पूरमंजरी।

नाट्यरासक—इसमें एक अङ्क, नायक उदात्त, नायिका बासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं।

योंही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो सबों के भाषा में उदाहरण हैं न इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है, इससे सविस्तार वर्णन नहीं किया गया।

भरत मुनि ने उपरूपकों के भेद नहीं लिखे हैं। दश प्रकार के रूपक लिखकर नाटक के दो भेद और माने हैं यथा नाटिका और त्रोटक। 'मल्लिका-मारुत'-प्रकरणाकार दंडी कवि रूपक मात्र को मिश्रकाव्य नाम से व्यवहृत करते हैं।

नाटक के नवीन भेद—आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और वंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अङ्क में अनेक-अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है; क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अङ्क और गर्भाङ्कों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष

के इतिहास के एक-एक अङ्क और उस अङ्क के अन्त:पाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भांङ्क। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अङ्क और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांत:पाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांङ्क। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं, किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किए जा सकते हैं यथा—१-संयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। २-वियोगांत—जिसकी कथा अन्त में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण "रणधीर प्रेम-मोहिनी") ३ मिश्र—अर्थात् जिसके अन्त में कुछ लोगों का तो प्राणवियोग हो और कुछ सुख पावें।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—१ शृंगार २ हास्य ३ कौतुक ४ समाज-संस्कार ५ देश-वत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, जगत् में प्रसिद्ध है। कौतुकविशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्तविनोदार्थ किसी यन्त्रविशेष-द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जायँ। समाज-संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म-सम्बन्धी

अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि, देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अंतर्गत है। (इसके उदाहरण, सावित्री-चरित्र, दुःखिनी बाला, बाल्यविवाहविदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चत्तुदान इत्यादि।) देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारतजननी, नीलदेवी, भारतदुर्दशा इत्यादि।) इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।

नाटक-रचना—प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तांत अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति-संभूत, किंवा लोकाचारसंघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलंबन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।

प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शकमण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल

के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसङ्गत नहीं बोध होता ।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय-गण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीतिपद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है ।

नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी । नाट्य-कलाकौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है । पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती ।

अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है ; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है । अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट',

'पंचसंधि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिंदी नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

प्रतिकृति (Scenes)—किसी चित्रपट-द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा दृश्य व स्थान है*। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में, चित्रपट-द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किंतु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्त्तन द्वारा वन, उपवन वा पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर-जानपदवर्ग के अपवाद-भय से श्रीरामकृत सीता-परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राज-प्रासाद और

* वर्तमान समय में जहाँ-जहाँ ये दृश्य बदलते हैं, उसी को गर्भाङ्क कहते हैं।

फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता। इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन-द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे ही अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक के अभिनय करने के समय सूत्रधार एक ही स्थान में रहकर परदा बदले बिना कैसे कभी तपोवन और कभी दुष्यन्त का राजप्रासाद दिखला सकेगा* । यही सब बात प्रमाण हैं कि उस काल में भी चित्रपट अवश्य होते थे। ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है।

---

*मुद्राराक्षस में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलयकेतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कहकर उसी अङ्क में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा। श्मशान से चन्दनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़कर पुकारता है कि भीतर कौन है, अमात्य चाणक्य से कहो इत्यादि। अर्थात पूर्व के दोनों दृश्य बदलकर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलाई पड़े। यह न हो तब तो नाटक निरे व्यर्थ हो जाते हैं जैसा रास में महाराष्ट्रों के नाटक में शतरंजी और मशालची को दिखलाकर नायिका नायक कहते हैं कि अहा देखो! यह फुलवारी वा नदी कैसी सुन्दर है। इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करे वा जिस स्थान की वह कथा हो, उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।

जवनिका वा वाह्यपटी (Drop Scene)—कार्य-अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रालम्ब रहता है उसका नाम जवनिका वा वाह्यपटी है। जब रंगशाला में चित्रपट-परिवर्त्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। संस्कृत नाटकों में जवनिका-पतन का नियम देखने से और भी प्रतीत होता है कि अन्तःपटी-परिवर्त्तन-द्वारा गिरि-नदी आदि की प्रतिच्छाया उस काल में भी अवश्य दिखलाई जाती थी।

"ततः प्रविशन्त्यपटीक्षेपेणाप्सरसः"

अर्थात् जवनिका विना गिराए ही (उर्व्वशी-विरहातुर) अप्सरागण ने रंगस्थल में प्रवेश किया इत्यादि दृष्टान्त ही इसके प्रमाण हैं।

प्रस्तावना--नाटक की कथा आरम्भ होने के पूर्व नटी, विदूषक किंवा पारिपार्श्वक सूत्रधार से मिलकर प्रकृत प्रस्ताव-विषयक जो कथोपकथन करें, नाटक के इतिवृत्त-सूचक उस प्रस्ताव को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक की नियमावली में मुनि-वर भरताचार्य ने पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखी है। वह पाँचों प्रणाली अति आश्चर्य-भरित और सुन्दर हैं। उसमें से चार हिन्दी-नाटक में भी व्यवहार की जा सकती हैं। सूत्रधार के पार्श्वचर बन्धु को पारिपार्श्वक कहते हैं। पारिपार्श्वक की अपेक्षा नट कुछ न्यून होता है। अब पूर्व-लिखित पाँच प्रकार की प्रस्तावना लिखते हैं।

यथा—१ उद्घात्यक, २ कथोद्घात, ३ प्रयोगातिशय, ४ प्रवर्त्तक, और ५ अवगलित।

उद्घात्यक--सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादनपूर्वक जहाँ पात्र प्रवेश होता है उसे उद्घात्यक प्रस्तावना कहते हैं।

उदाहरण--मुद्राराक्षस

सूत्र०— प्यारी, मैंने जोतिःशास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम किया है। जो हो रसोई तो होने दो। पर आज गहन है, यह तो किसी ने तुम्हें धोखा ही दिया है। क्योंकि—

चन्द्रबिंब पूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करि है ग्रास कह—

(नेपथ्य में)

हैं! मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है?

सूत्र०— जेहि बुध रच्छत आप।

यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था, किन्तु चाणक्य ने चन्द्र शब्द का अर्थ चन्द्रगुप्त प्रगट करके प्रवेश करना चाहा, इसी से उद्घात्यक प्रस्तावना हुई।

कथोद्घात--जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मर्म ग्रहण करके पात्र प्रविष्ट होते हैं उसे कथोद्घात कहते हैं।

यथा रत्नावली में, सूत्रधार के इस कहने पर कि ईश्वरेच्छा से

द्वीपांतर किंवा समुद्र के मध्य की वस्तु भी सहज में मिल जाती है, यौगन्धरायण का आना।

यहाँ सूत्रधार के वाक्य का मर्म यह था कि जिस नाटक में द्वीपांतर की नायिका आती है, वह खेला जायगा इसी को समझ कर अन्य नट मन्त्री बनकर आया।

प्रयोगातिशय--एक प्रयोग करते-करते घुणाक्षरन्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करें तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे कुन्दबाला (कुन्दमाला) नामक नाटक में सूत्रधार ने नृत्य प्रयोग के निमित्त अपनी भार्या को आह्वान करने के प्रयोग विशेष-द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया॥। इस प्रकार से नाटक की प्रस्तावना शेष होने पर पात्र प्रवेश और नाटकीय इतिवृत्त की सूचना होगी।

चर्चरिका—जब-जब एक-एक विषय समाप्त होगा जवनिका-पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब

॥ जान पड़ता है कि यहाँ भूल से प्रवर्त्तक और अवगलित की कारिका छूट गई है। जहाँ सूत्रधार किसी गुप्त बात का वर्णन करता है, और उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश होता है, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं। और जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय, उसे अवगलित कहते हैं।

पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है। जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजै वह भैरवी आदि सवेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए।

कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती वृत्ति, कैशिकी वृत्ति—जो वृत्ति अति मनोहर, स्त्रीजनोचित भूषण से भूषित, और रमणी-बाहुल्य नृत्य गीतादि परिपूर्ण और भोगादि विविध विलास-युक्त होती है उसका नाम कैशिकी वृत्ति है। यह वृत्ति शृंगाररस प्रधान नाटकों की उपयोगिनी है।

सात्वती वृत्ति—जिस वृत्ति-द्वारा शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से वीरोचिता, विविध गुणान्विता, आनन्द-विशेषोद्भाविनी, सामान्य विलास-युक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी नायक-कर्तृक प्रयुक्त होती है उसका नाम सात्वती वृत्ति है। वीररस-प्रधान नाटक में इसकी आवश्यकता होती है।

आरभटी वृत्ति—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बंधनादि विविध रौद्रोचितकार्यजड़ित वृत्ति का नाम आरभटी है। रौद्ररस वर्णन के स्थल में इस वृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

भारती वृत्ति—साधुभाषाबाहुल्य वृत्ति का नाम भारती वृत्ति है। वीभत्स रस वर्णन-स्थल में यह व्यवहृत होती है। नाटककर्त्ता ग्रन्थगुंफन करने के समय यदि आद्यरस-प्रधान नाटक लिखने की इच्छा करेंगे, तो उनको कैशिकी वृत्ति ही में समस्त वर्णन करना योग्य है। आद्यरस वर्णन करने के समय ताल ठोकना, मुद्गर घुमाना, वा असिक्षेप प्रभृति वीरोचित विषयक कोई भी वर्णन नहीं करना चाहिए। सात्वती प्रभृति वृत्तियों के पक्ष में भी ठीक यही चाल है।

उपक्षेप—अभिनय कार्य के प्रथम संक्षेप में समस्त नाटकीय विवरण कथन का नाम उपक्षेप है।

पूर्वकाल में मुद्रायंत्र की सृष्टि नहीं हुई थी, इस हेतु रंगस्थल में नट, नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्वक कर्तृक उपक्षेप का उल्लेख होता था। आजकल मुद्रायंत्र के प्रभाव से इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही। प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जायगा।

पूर्वकाल में नाटक मात्र में उपक्षेप उपन्यस्त होता था, यह नियम नहीं था; क्योंकि सब नाटकों में उपक्षेप का उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। वेणीसंहार में इसका उल्लेख है, किन्तु यह भीमकृत उपन्यस्त हुआ है।

यथा भीम—"लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
सुस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः?"

प्ररोचना—जिसके अनुष्ठान द्वारा अभिनयदर्शन में सामाजिक लोगों की प्रवृत्ति जन्मती है उसका नाम प्ररोचना है। यह सूत्रधार, नट, पारिपार्श्वक वा नटी के द्वारा विनीत होती है।

नेपथ्य—रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान रहता है उसका नाम नेपथ्य है।

अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेश-भूषणादि से साजते हैं। जब रंगभूमि में आकाशवाणी, दैवी वाणी अथवा और कोई मानुषी वाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य ही में से गाई या कही जाती है।

उद्देश्यवीज—गुंफित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्यवीज है। कवि जो इसका साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रंथ नाटक में परिगणित न होगा।

वस्तु--नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है यथा--आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु।

जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसको अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का आश्रय करके जो वस्तु विरोचित होती है, उसका नाम आधिकारिक वस्तु है। जैसा उत्तरचरित्र।

इस आधिकारिक इतिवृत्त का रस पुष्ट करने के लिए प्रसंग-क्रम में जो वृत्त लिखा होता है, उसका नाम प्रासंगिक वस्तु है। जैसा बालरामायण में सुग्रीव-विभीषणादि का चरित्र।

मुख्य उद्देश्य—प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हों; और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किंतु मूल प्रस्ताव निष्कंप रहै तो उस की रसपुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।

अभिनय—कालकृत अवस्था-विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। अवस्था यथा, रामाभिषेक, सीता-निर्वासन, द्रौपदी का केशभाराकर्षण इत्यादि।

पात्र—जो लोग राम युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके कथित अवस्था का अनुकरण करते हैं, उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगणकर्तृक प्रदर्शित होते हैं, उनमें भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवन-संभूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता, किंतु पुरुषों को स्त्री-वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखलाना पड़ता है।

अभिनय प्रकार—अभिनय चार प्रकार का होता है यथा—आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय।

केवल अंगभंगी-द्वारा जो अभिनय कार्य साधन करते हैं, उसका नाम आंगिकाभिनय है। जैसे सती नाटक में नंदी। सती ने शिव की निंदा श्रवण करके देह त्याग किया। यह सुनकर महावीर नंदी ने जब त्रिशूल हस्त में ले करके रंगस्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिकभाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिए।

केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय-कार्य समाहित होता है, उसका नाम वाचिकाभिनय है। यथा तोतले आदि का वेश।

वेष भूषणादि निष्पाद्य का नाम आहार्याभिनय है। जैसा सत्यहरिश्चंद्र में चोबदार वा मुसाहिब लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तब इनको कुछ बात नहीं करनी पड़ती। केवल आहार्याभिनय के द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करना होता है।

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, कंप और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्था-नुकरण का नाम सात्विकाभिनय है। जैसा सती का मृत देह देख कर नंदी का व्यवहार और अश्रुपात इत्यादि।

एक पात्र-द्वारा जब कथित अभिनय में से दो वा तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं तो उसको वीभत्साभिनय कहते हैं।

अङ्गांगी भेद—नाटक में जो प्रधान नायक होता है उसको समस्त इतिवृत्ति का अंगी कहते हैं। जैसे सत्यहरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र।

अंगी के कार्यसाधक पात्रगण अंग कहलाते हैं। जैसे वीरचरित में सुग्रीव, विभीषण, अंगद इत्यादि।

नाटक में अंगी को अवनत करके अंग का प्राधान्य करने से वैषम्यपात नामक दोष होता है।

अङ्क लक्षण—नाटक के एक-एक विभाग को एक-एक अंक कहते हैं। अंक में वर्णित नायक-नायिकादि पात्र का चरित्र और

आचार-व्यवहारादि दिखलाया जाता है । अनावश्यक कार्य का उल्लेख नहीं रहता । अंक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है ।

नाटक का अवयव बृहत् होने से एक रात्रि में अभिनय-कार्य समाहित नहीं होगा । इस हेतु दश अंक से अधिक नाटक निर्माणविधि और युक्ति के विरुद्ध है । प्रथम अंक का अवयव जितना होगा द्वितीयांक का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिए। ऐसे ही क्रम-क्रम से अंक का अवयव छोटा करके ग्रंथ समाप्त करना चाहिए ।

विरोधक—नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम विरोधक है ।

उदाहरण—दूराह्वान, अति विस्तृत युद्ध, राज्य देशादि का विप्लव, प्रबल वात्या, दंतच्छद, नखक्षत, अश्वादि बृहत्काय जंतु का अति वेग से गमन, नौका-परिचालन और नदी में संतरण प्रभृति अघटनीय विषय ।

नायक निर्वाचन—विनय, शीलता, वदान्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रियभाषिता, लोकरंजकता, वाग्मिता प्रभृति गुणसमूह-संपन्न सद्वंशसंभूत युवा को नायक होने का अधिकार है । नायक की भाँति नायिका में भी यथासम्भव वही गुण रहना आवश्यक है । प्रहसन आदि रूपक-विशेष के नायकादि अन्य प्रकार के होते हैं ।

परिच्छद-विवेक--नाटकांतर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहरें यह ग्रंथकार कर्त्तृक उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है। नाटक में किसी-किसी स्थान में उत्तम परिच्छद का परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जैसा सत्य-हरिश्चंद्र में "दरिद्र वेष से हरिश्चंद्र का प्रवेश।"

ऐसी अवस्था भिन्न स्पष्ट रूप से परिच्छद का वर्णन किसी स्थान में उल्लिखित नहीं रहता, इससे अभिनय में वेश-रचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेशरचना कर दे। नेपथ्य कार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेष-विधायक की आवश्यकता रहती है।

विष्कंभक--नाटक में विष्कंभक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु-रचना में जो-जो अंश अत्यंत नीरस और आडंब-रात्मक हैं उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक-प्रणेतृगण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्गत कराते हैं।

नाटकरचना-प्रणाली--नाटक लिखना आरंभ करके, जो लोग उद्देश्य वस्तु परंपरा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्व्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।

ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बात-चीत रचना करें कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनीभाव विडंबना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है। नाटक में वाक्-प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शकों के अंतःकरण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को समधिक वागाडंबर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मित-भाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतरभाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा उत्तर-रामचरित में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं—'क्वास्ते प्रजावत्सलो रामः' ? यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन-जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता प्रदानपूर्वक अति सुंदर रूप से मनुष्य के बाह्यभाव और कार्यप्रणाली के चित्रण द्वारा सहजभाव से उनका दिखलाना प्रशंसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अंतरभाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार संबोधन

दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते हैं।

नाटक में अंतर का भाव कैसे चित्रित किया जाता है इसका एक अति आश्चर्य दृष्टांत अभिज्ञान शाकुंतल से उद्धृत किया गया।

शकुंतला श्वशुरालय में गमन करेगी इस पर भगवान कण्व जिस भाँति खेदप्रकाश करते हैं वह यह है।

कण्व--(मन में चिंता करके) आहा आज शकुंतला पतिगृह में जायगी यह सोचकर हमारा हृदय कैसा उत्कंठित होता है, अंतर में जो वाष्पभर का उच्छ्वास हुआ है उससे वाग्जड़ता हो गई है, और दृष्टिशक्ति चिंता से जड़ीभूत हो रही है। हाय ! हम वनवासी तपस्वी हैं। सो जब हमारे हृदय में ऐसा वैक्लव्य होता है तो कन्या के वियोग के अभिनव दुःख में बेचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी !

सहृदय पाठक ! आप विवेचना करके देखिए कि इस स्थान में कविश्रेष्ठ कालिदास कुलपति कण्व ऋषि का रूप धारण करके ठीक उनका मानसिकभाव व्यक्त कर सके हैं कि नहीं।

इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीट कर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि-जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुंतला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कविकुलमुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया।

नाटक-रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली संदर्शन करके दर्शक लोग पूर्व-पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशंसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुंफित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभंगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वही काव्यामोदी रसज्ञ-मण्डली को अपूर्व आनन्द वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटककार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री संग्रह नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक संकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किस को कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयंगम करके, नाटकरचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिये। जो अनालोचित-मानव-प्रकृति हैं उनके द्वारा मानव जाति के अन्तर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, यह कभी सम्भव नहीं है। इसी कारण कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल और शेक्सपियर के मैकबेथ और हमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं।

मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे ; तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे ; वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना-द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है और किसी उपकरण-द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

राजनीति, धर्म्मनीति, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति, सन्धि, विग्रह प्रभृति राजगुण ; मन्त्रणा, चातुरी, आद्य, करुणा प्रभृति रस विभाव, अनुभाव, व्यभिचारभाव तथा सात्विकभाव तथा व्यय वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक् रूप समर्थ हो तब नाटक लिखने को लेखनी धारण करे।

स्वदेशीय तथा भिन्नदेशीय सामाजिक रीति, व्यवहारिक रीति, पद्धति का निदान फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनु-सन्धान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।

वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिएँ। यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वाभाविक है वैसे ही पण्डितों के संभाषण की भान्ति

विशेष संस्कृत-गर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वाभाविकी है। महामुनि भरताचार्य पात्र-स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यंत सविस्तर कर गए हैं। यद्यपि उनके नांदीरचनादि विषय के नियम हिंदी में प्रयोजनीय नहीं, किंतु पात्रस्वभाव-विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।

नाटक पठन वा दर्शन में स्वभाव-रक्षा मात्र एक उपाय है जो पाठक और दर्शकों के मनःसमुद्र को भाव-तरंगों से आस्फालित कर देता है।

विदूषक—नाटकदर्शकगण विदूषक के नाम से अपरिचित नहीं हैं, किंतु विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। बहुत से नाटक-लेखकों का सिद्धांत है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है, किंतु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुणरस-प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थलों में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुमवसंतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा, टेढ़े अंग का वा और किसी विचित्र आकृति का, किंवा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असंगत, किंतु हास्य रस के अविरुद्ध बात कहने-वाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छद भी ऐसा हो जो

हास्य का उद्दीपक हो। संयोग शृंगार वर्णन में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविकी होती है।

रस वर्णन--शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।

शृंगार, संयोग और वियोग दो प्रकार का। यथा शकुन्तला के पहले और दूसरे अंक में संयोग, पाँचवें छठें अंक में वियोग।

हास्य, यथा भाण और प्रहसनों में।

करुण, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में शैव्या के विलाप में।

रौद्र, यथा धनंजयविजय में युद्धभूमि-वर्णन।

वीर रस ४ प्रकार। यथा दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योगवीर। दानवीर, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में 'जेहि पाली इक्ष्वाकु सों' इत्यादि। सत्यवीर, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में 'बेचि देह दारा सुअन' इत्यादि। युद्धवीर यथा नीलदेवी। उद्योगवीर* मुद्राराक्षस। भयानक, अद्भुत और वीभत्स, यथा सत्यहरिश्चन्द्र में श्मशानवर्णन।

शांत यथा प्रबोध-चन्द्रोदय में; भक्ति यथा संस्कृत चैतन्य-चंद्रोदय में; प्रेम यथा चंद्रावली में। वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

---

*मुद्राराक्षस में मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर मुझको उद्योगवीर की कल्पना करनी पड़ी।

रसविरोध—नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्य वीर विरोधी नहीं, किंतु अति करुण वीभत्स रौद्र भयानक और शांत विरोधी हैं, तो जिस नाटक में शृंगाररस प्रधान अंगीभाव से हो उसमें ये न आने चाहिएँ। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा, किंतु पुत्रशोकादिवत् अति करुण का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ, नवीन (ट्रैजेडी) वियोगांत नाटक-लेखक तो यह रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौंदर्य्यरक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

अन्य स्फुट विषय—नाटक-रचना के हेतु पूर्वोक्त कथित विषयों के अतिरिक्त कुछ नायिकाभेद और कुछ अलंकारशास्त्र जानने की भी आवश्यकता होती है। ये विषय रसरत्नाकर, भारतीभूषण, लालित्यलता आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रन्थ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्यहरिश्चंद्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती हैं। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्त्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलंबन करके नाटक लिखना

योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इंद्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है, अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापर-बद्ध होनी चाहिए कि जब तक अंतिम अंक न पढ़ें किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नहीं कि 'सीधा एक को बेटा हुआ, उसने यह किया वह किया' प्रारंभ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किंतु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी, किंतु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें, किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव--नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तकभाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी-भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना--एक यह साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किन्तु इस नियम पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन--पात्रगण आपस में जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भान्ति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भान्ति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं' इत्यादि न कहें। परस्पर वार्त्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्य-रचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।

नाटकों का इतिहास--यदि कोई हमसे यह प्रश्न करे कि सब के पहिले किस देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षणमात्र का भी विलम्ब किए बिना मुक्त कण्ठ से कह देंगे 'भारतवर्ष में'। इसका प्रमाण यह है कि जिस देश में संगीत और साहित्य प्रथम परिपक्व हुए होंगे वहीं प्रथम नाटक का भी प्रचार हुआ होगा। हम नहीं समझ सकते कि पृथ्वी की और कोई जाति

भी भारतवर्ष के सामने इस विषय में मुँह खोले। आर्यों का परम शास्त्र वेद संगीत और साहित्यमय है और जाति में संगीत और साहित्य प्रमोद के हेतु होते हैं। किन्तु हमारे पूज्य आर्य महर्षियों ने इन्हीं शास्त्रों द्वारा आनन्द में निमग्न होकर परमेश्वर की उपासना की है, यहाँ तक कि हमारे तीसरे वेद साम की संज्ञा ही गान है। और किसके यहाँ धर्म संगीत-साहित्य-मय है? हमारे यहाँ लिखा है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति॥ १॥
काव्यालापाश्च ये केचित् गीतिकान्यखिलानि च।
शब्दरूपधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥ २॥

तो जब हमारे धर्म के मूल ही में संगीत और साहित्य मिले हैं, तब इसमें क्या सन्देह है कि इस रस के प्रथमाधिकारी आर्यगण ही हैं। इसके अतिरिक्त नाटकरचना में रंग नट इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे सब प्राचीन काव्य, कोष, व्याकरण और धर्मशास्त्रों में पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटकरचना हमारे आर्यगणों को पूर्व-काल ही से विदित है।

सर्वदा नट लोगों के ही द्वारा ये नाटक नहीं अभिनीत होते थे, आर्य राजकुमार और कुमारीगण भी इसको सीखते थे। महाभारत के खिल हरिवंश पर्व के विष्णु पर्व के ९३ अध्याय में प्रद्युम्न सांबादि यादव राजकुमारों का वज्रनाभ के पुर में जाना और वहाँ नट बनकर (कौबेररंभाभिसार) नाटक खेलना बहुत स्पष्ट रूप से

वर्णित है। वहाँ लिखा है कि जब प्रद्युम्न आदिक वीर वज्रनाभ के पुर में गए तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कुमारों को नाटक करने की आज्ञा देकर भेजा था। प्रद्युम्न सूत्रधार थे, सांब विदूषक थे, और गद पारिपार्श्वक थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी गाने-बजाने का साज लेकर साथ गई थीं। पहले दिन इन लोगों ने रामजन्म नाटक किया जिसमें लोमपाद राजा की आज्ञा से गणिकाओं का शृंगी ऋषि को ठगकर लाना बहुत अच्छी रीति से दिखलाया गया था। दूसरे दिन फिर रंभाभिसार नाटक किया। इसमें पहिले इन लोगों ने नेपथ्य बाँधा फिर स्त्रियों ने भीतर से बड़े सुन्दर स्वर से गान किया। पीछे गंगाजी के वर्णन में प्रद्युम्न, गद और सांब ने मिलकर नांदी गाई और तदनंतर प्रद्युम्नजी ने विनय के श्लोक पढ़कर सभा को प्रसन्न किया और तब नाटक आरम्भ हुआ। इसमें शूर नामक यादव रावण बना, मनोवती नाम्नी स्त्री रंभा* प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक। इसी प्रकरण से यह बात सिद्ध होती है कि केवल नट ही नहीं, प्राचीन काल से आर्यकुल में बड़े-बड़े लोग भी इस विद्या को भली भाँति जानते थे।

---

*इससे एक बात यह बहुत बड़ी प्रमाणित हुई कि प्राचीन काल में स्त्री का वेष स्त्री लेती थीं।

बँगला नाटक का विकास

प्राचीन बँगला नाटक—बँगला साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी से पहले नाटक का अभाव सा है। इससे पूर्व यात्रा, कथा, आदि में ही थोड़ा बहुत नाट्य-कला का विकास हुआ। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कई ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जो नाटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु वह न तो प्राचीन संस्कृत नाटकों से मिलते हैं, न आधुनिक बँगला नाटकों से। वह सर्वथा छन्दोमय हैं और उनका अभिनय कभी नहीं किया गया इनमें लोचण दास का "जगन्नाथ बल्लभ", यदुनाथ दास का "विदग्ध-माधव", प्रेमदास का "चैतण्य-चन्द्रोदय-कौमुदि" और देवकीनन्दन का "गोपाल-विजय" नाटक प्रसिद्ध हैं।

गीत-विनय—वास्तविक बँगला नाटक के विकास के पूर्व, बंगाल में एक विशेष प्रकार के रूपक लिखे गए जिन्हें गीत-विनय कहते हैं। यह अधिकतर धार्मिक विषयों पर लिखे जाते थे, और अंगरेज़ी भाषा के मिरेकल (Miracle) नाटकों से मिलते-जुलते थे। कृष्ण कमल के "राय-उन्मादिनी", "निमाई-संन्यास"

और "स्वप्न-विलास" बहुत ही मधुर और रोचक हैं। यह नाटक सारे बंगाल देश में उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे।

कलकत्ता का पहला देशी थिएटर एक रूसी सज्जन के उत्साह से १७६५ ईस्वी में बना था। यहाँ पर दो अंगरेज़ी नाटकों के अनुवाद का अभिनय किया गया था। १८३१ में विद्या-सुन्दर का अभिनय एक बंगाली रईस के मकान पर किया गया। पाश्चात्य ढंग पर लिखा हुआ बँगला का पहला नाटक तारचरण सिकदार का भद्रार्जुन है। इसमें संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना का उपयोग नहीं किया गया और प्रत्येक अंक में विविध दृश्यों या संयोग-स्थलों का उपयोग किया गया है।

रामनारायण तर्करत्न—बँगला साहित्य का पहला प्रसिद्ध नाटक रामनारायण तर्करत्न का "कुलीन-कुल-सर्वस्व" है। जो कि १८५४ में लिखा गया। इस नाटक का विषय समाज-सुधार है जिस में कुलीन प्रथा और बहुविवाह के प्रति घृणा का ज़ोरदार चित्र दिखाया गया है। रामनारायण तर्करत्न ने कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद भी किया। इन नाटकों का अभिनय बंगाल में इतना सर्व-प्रिय हो गया कि उस समय के विख्यात बंगाली विद्वान् माईकल मधुसूदन दत्त ने भी इस क्षेत्र में आने का निश्चय किया।

मधुसूदनदत्त--माईकल मधुसूदनदत्त हिन्दू कालिज का एक प्रतिभाशाली स्कालर था और अँगरेज़ी कविता लिखने में यश प्राप्त कर चुका था। उसने पाश्चात्य नाटककला का

पूरा अध्ययन किया था। उसकी लेखनी ने बँगला साहित्य में एक नए युग का आविर्भाव किया। जिस समय रामनारायण तर्करत्न का लिखा हुआ रत्नावली नाटक खेला गया तो मधुसूदनदत्त के हृदय में विद्युत् गति से यह शुभ भाव जागृत हुआ कि सच्ची प्रतिभा विदेशी भाषा में अपने महत्व को प्राप्त नहीं कर सकती। जिस मधुसूदन ने आज तक बँगला में एक अक्षर भी नहीं लिखा था वह थोड़े ही समय में अपनी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि प्रसिद्ध हुआ। इस समय से पूर्व हिन्दू कालिज के पढ़े हुए बंगाली नवयुवक अपनी भाषा और साहित्य को घृणा की दृष्टि से देखते थे और अँगरेज़ी भाषा में लिखने में ही अपनी शान समझते थे। परन्तु इस घटना के बाद बंगाल के लेखकों ने अपनी मातृभाषा में ख्याति प्राप्त करना ही अपना आदर्श रखा है।

मधुसूदनदत्त का पहला नाटक "शर्मिष्ठा" बंगाली नाटकों में बहुत प्रसिद्ध है। यह अँगरेज़ी नाटकों की शैली पर लिखा गया था। इसकी भाषा सरल थी। यह बोल चाल की भाषा थी। उसमें रामनारायण तर्करत्न की भाषा का पाण्डित्य न था। इसके बाद "पद्मावती" और "कृष्णाकुमारी" लिखे गए। कृष्णाकुमारी भारतीय नाटकों में पहला दुःखान्त नाटक (Tragedy) है जिसमें उदयपुर की एक राजकुमारी की विषादमय कथा का वर्णन है। इसमें सन्देह नहीं कि मधुसूदन ही आधुनिक बँगला नाटक का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

दीनबन्धुमित्र--मधुसूदन के बाद बँगला नाटक के क्षेत्र में दीनबन्धु मित्र ने मधुसूदन दत्त से भी अधिक यश प्राप्त किया। उसका सर्व-प्रिय नाटक 'नील-दर्पण' १८५८ में लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुआ। नील-दर्पण ने सारे देश में एक हलचल पैदा कर दी। इस नाटक का अँगरेज़ी अनुवाद मधुसूदनदत्त ने किया और यह अनुवाद एक सहृदय अँगरेज़ पादरी जेमज़लाँग ने १८६१ में प्रकाशित किया जिस के कारण उसे एक मास की कैद और १,००० रुपया जुर्माना हुआ। उस समय इस नाटक का अनुवाद अन्य योरुपीय भाषाओं में भी हुआ था।

नील-दर्पण--"नील दर्पण" सचमुच नाट्य साहित्य का एक उज्ज्वल रत्न है। उस समय नील के अँगरेज़ किसान भारतीय कुलियों पर जो अत्याचार करते थे इन सब का नील दर्पण में एक नग्न चित्र दिखाया गया है। दीनबन्धु का जन्म भी नदिया ज़िला के एक गाँव में हुआ था और उसे इन अत्याचारों के देखने का पर्याप्त अवसर मिला था। नील-दर्पण में नाटकीय पात्रों का चित्रण बड़ी कुशलता से किया गया है और एक साधु परिवार के कष्टों और दुःखों का चित्र इतनी निपुणता से दिखाया गया है कि प्रत्येक मानुषी हृदय में उनके प्रति सहानुभूति और सहृदयता का अंकुर पैदा हो जाता है। इस नाटक ने भारत में नील के गोरे किसानों के नारकीय अत्याचारों के रोकने में वही शुभ काम किया जो कि अमेरिका में नीग्रो जाति के प्रति अत्याचारों के रोकने में अंकल टामज़ केबन (Uncle Tom's

Cabin) ने किया था । नील दर्पण करुण-रस से परिपूर्ण है।

दीनबन्धु ने कई अन्य नाटक भी लिखे जिनमें माधवार एकादशी, जमाई वारिक, नवीन तपस्विनी और लीलावती अधिक प्रसिद्ध हैं। दीनबन्धु जहाँ करुणारस के प्रदर्शन में बहुत सफल हुआ वहाँ उसके नाटकों में हास्य रस की भी बहुलता है और उसने तत्कालीन बँगला समाज के घोर दोषों को अपने व्यंग्यमय हास्य से दूर करने का प्रयत्न किया है।

गिरीशचन्द्र घोष—आधुनिक बँगला रंगमंच का स्थापक गिरीशचन्द्र है। वह अपने समय की सब नाट्य संस्थाओं का प्रेरक और नेता था। उसने स्वयं पचास से अधिक नाटक लिखे। उसके नाटक-समूह को तीन भागों में बाँटा जा सकता है (१) सामाजिक नाटक, (२) पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक, और (३) अनुवाद नाटक। बिल्व मंगल में एक पतित शराबी की आत्मा के उद्धार का हृदयाकर्षक चित्र है। इसी नाटक के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा था—"मैंने इसे बारम्बार पढ़ा है और हर बार मुझे इससे कुछ नया लाभ हुआ है।" 'बलिदान' में हिन्दू परिवारों में दहेज़ की कुप्रथा के हृदय-विदारक परिणाम का ज़ोरदार प्रदर्शन है। "प्रफुल्ल" में भी एक साधारण बंगाली के गृह-जीवन का जीता-जागता चित्र है। गिरीशचन्द्र के ऐतिहासिक नाटकों में पाण्डव-गौरव, तपोबल, बुद्ध, शंकराचार्य, चैतन्य-लीला, छत्रपति शिवाजी, आदि अनेक नाटक-रत्न प्रसिद्ध हैं।

गिरीशचन्द्र स्वामी रामकृष्ण परमहंस का अनुयायी था और उस महात्मा के प्रभाव से गिरीश के बहुत से अच्छे नाटक धार्मिक भावों से सने हुए हैं।

इसी समय में अमृतलाल वसु ने कई प्रहसन लिखे। उसका हरिश्चन्द्र नाटक प्रसिद्ध है।

द्विजेन्द्रलाल राय--बंगाल का विख्यात नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय अपने साहित्य में रोमान्टिक (Romantic) का प्रवर्तक है। द्विजेन्द्रलाल ने कलकत्ता और विलायत में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। जब वह एम० ए० में पढ़ते थे उस समय भी उन्होंने 'आर्य-गाथा' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित किया था। इस संग्रह में भी कई कविताएँ बहुत सुन्दर हैं। विलायत में उन्होंने अँगरेज़ी भाषा में एक कविता-संग्रह प्रकाशित किया जिसकी अँगरेज़ी पत्रों में बड़ी प्रशंसा की गई। विलायत से लौटने पर समाज ने समुद्रयात्रा के कारण उन्हें प्रायश्चित करने पर विवश किया। समाज के इस अत्याचार से द्विजेन्द्र बाबू के हृदय पर चोट लगी जिसने उनके कई ग्रन्थों को प्रभावित किया। द्विजेन्द्रलाल की नाटक-रचना का वर्णन इस पुस्तक के अन्य स्थल पर किया गया है। स्वदेशी आन्दोलन ने भी द्विजेन्द्रलाल की प्रतिभा पर अपना प्रभाव डाला। द्विजेन्द्रलाल के हृदय में स्वदेश-भक्ति कूट कूट कर भरी थी। बंकिम के उपन्यास, विवेकानन्द के धार्मिक लेख, रवीन्द्रनाथ के गीत और द्विजेन्द्रलाल के नाटक अपने देश वासियों के प्रति स्वदेश-भक्ति का सन्देश हमेशा देते रहेंगे। बँगला के नाटककारों

में द्विजेन्द्रलाल का स्थान बहुत ऊँचा है और बहुत से लेखकों के मत में द्विजेन्द्रलाल सर्वश्रेष्ठ बंगाली नाटक-कार हैं।

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद ने भी कई नाटक लिखे हैं जिनमें प्रतापादित्य मशहूर है। इस ऐतिहासिक नाटक में बंगाल के अंतिम महान् नेता की वीरता का चित्रण है। यह नाटक स्वदेश-भक्ति से परिपूर्ण है। मनमोहन राय ने रजिया नाम का सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखा है और मनमोहन गोस्वामी के दो सामाजिक नाटक संसार और समाज काफी अच्छे समझे जाते हैं।

बंगाल के युवक नाटककारों में द्विजेन्द्रलाल के ऐतिहासिक नाटकों का अनुकरण सर्वप्रिय है। कर्णार्जुन और सीता आदि नाटकों का आधार प्राचीन वीर-काव्य रामायण और महाभारत हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर--रवीन्द्रनाथ ठाकुर संसार के सर्व-प्रसिद्ध प्रतिभाशाली लेखकों में से हैं। उन्होंने साहित्य के अनेक विभागों में अप्रतिम ग्रन्थ लिखे हैं। नाटक के क्षेत्र में शैली (Shelley), ब्रौनिंग (Brownig) और मैटरलिंक (Materlinck) की भाँति रवीन्द्रनाथ के नाटक भी अभिनय के लिए पसन्द नहीं किए जाते। 'चित्रांगदा', 'राजारानी', सारदोत्सव, फाल्गुनी, अचलायतन, मुक्तधारा, रक्तकबी—यह सब गीति-प्रधान नाटक हैं जिनमें उच्च विचारों और आदर्शवाद का बाहुल्य है। सांसारिक चहल पहल की कमी है। रवीन्द्रनाथ के कई नाटकों

का अभिनय चुनी हुई विद्वद्-मण्डली के सन्मुख लण्डन आदि बड़े नगरों में सफलता से किया गया है। रवीन्द्रनाथ के नाटकों का पूरा वर्णन आगे दिया जावेगा।

—:०:—

प्राचीन हिन्दी नाटक

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का शकुन्तला नाटक, वेदांत-विषयक भाषा-ग्रन्थ समय-सार नाटक, ब्रजवासीदास के प्रबोधचन्द्रोदय प्रभृति नाटक के भाषा-अनुवाद नाटक नाम से अभिहित हैं किंतु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है, अर्थात् नाटक-रीत्यानुसार पात्रप्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषाकविकुलमुकुटमाणिक्य देव कवि का 'देवमायाप्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्रीमहाराज विश्वनाथसिंह रीवाँ का आनन्दरघुनंदन नाटक यद्यपि नाटक-रीति से बने हैं, किंतु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छंदप्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध नाटक-रीति से पात्रप्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है। इसमें इन्द्र को ब्रह्महत्या

लगना और उसके अभाव में नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इन्द्राणी पर कामचेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोतकर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्वपद पाना, यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अँगरेज़ी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं; उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता-मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट-गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिंदा थी। हम लोगों को अँगरेजी शिक्षा दी। सिद्धांत यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जब कि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देहत्याग किया, किंतु इसी अवसर में चालीस ग्रन्थ—जिनमें बलरामकथामृत, गर्गसंहिता, भाषा वाल्मीकिरामायण, जरासंधवध महाकाव्य और रसरत्नाकर ऐसे बड़े बड़े भी हैं—बनाए।

हिंदी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मण-सिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्या-सुन्दर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवासदास का तपती-संवरण, पंचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ठ प्रिय मित्र बाबू तोताराम का कटोकृतांत और फिर तो और भी चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिंदी नाटक हैं। सर विलियम म्योर साहिब के काल में अनेक ग्रन्थ बने हैं क्योंकि वे ग्रन्थ बनानेवालों को पारितोषिक देते थे। इसी से रत्नावली भी हिंदी में बनी और छपी है किंतु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनु-वादों की भी होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकांतर-स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।

इस रत्नावली की दुर्दशा के दो चार उदाहरण यहां दिखलाए जाते हैं। यथा 'तब यह प्रसंग हुआ कि यौगंधरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और यह बोला, "और गान कर कहता है कि अए मदनिके'। अब कहिए यह रामकहानी है कि नाटक ?

और आनन्द सुनिए 'जो आज्ञा रानीजी की ऐसा कर तैसा ही करती है हाहाहा ! ! !'

एक आनन्द और सुनिए। नाटकों में कहीं-कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात् पात्र बैठने का नाट्य करता है। उसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है' 'नाट्येनोल्लिख्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुई लिखती है' ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई' 'निकट बैठकर नाचती हुई'।

और आनन्द सुनिए। 'इति विष्कम्भकः' का अनुवाद हुआ है 'पीछे विष्कम्भक आया'। धन्य अनुवादकर्त्ता ! और धन्य गवर्नमेंट जिसने पढ़नेवालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा ! ! !

गवर्नमेंट की तो कृपादृष्टि चाहिए, योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से विशेष व्यय किया गया तो यह कौन बड़ी बात है। 'सेन सेत सब एक सें' जहाँ कपूर कपास'। यहाँ तो 'भेंट भए जयसाहि सों भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किंतु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करे चतुराई चितेरो'।

यद्यपि हिंदी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किंतु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रन्थ भी बनते जायँगे। और अपनी संपत्ति-शालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्नभांडागार की सहायता से हिंदी भाषा बड़ी उन्नति करे।

यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हमको अतीव आनन्द होता है कि लण्डननगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने भी शकुन्तला का हिंदी भाषा में अनुवाद* किया है। वह अपने २० मार्च के पत्र में हिंदी ही में मुझको लिखते हैं 'उस पर भी मैंने हिंदी भाषा के सिखलाने के लिए कई एक पोथियाँ बनाई हैं। उनमें से हिंदी भाषा में शकुन्तला नाटक एक है।'

हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह जानकीमंगल था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायणसिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ सम्वत् १९२५ में बनारस थिएटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चन्द्र खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलनेवाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटकसमाज नहीं है।

अथ हिन्दी-नाटक-तालिका

नहुष नाटक	(श्रीगिरधरदास)
शकुंतला	(राजा लक्ष्मणसिंह)
मुद्राराक्षस	(हरिश्चन्द्र)
सत्यहरिश्चन्द्र	"

---

* यह अनुवाद नहीं है। टीका-टिप्पणी सहित राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद का संस्करण है।

विद्यासुंदर	(हरिश्चन्द्र)
अंधेर नगरी	”
विषस्य विषमौषधम्	”
सतीप्रताप	”
चन्द्रावली	”
माधुरी	”
पाखंड-विडंबन	”
नवमल्लिका	”
दुर्ल्लभबंधु	”
प्रेमयोगिनी	”
जैसा काम वैसा परिणाम	”
कर्पूरमंजरी	”
नीलदेवी	”
भारतदुर्दशा	”
भारतजननी	”
धनंजय-विजय	”
वैदिकी हिंसा	”
बूढ़े मुंह मुँहासे लोग देखें तमाशे (बूढ़ो शालिकेर का अनुवाद)	बाबू गोकुलचन्द्र
अद्भुत चरित्र वा गृहचंडी	(श्रीमती......
तप्तीसंवरण	(लाला श्रीनिवासदास)
रणधीर-प्रेममोहिनी	”
केटो कृतांत	(बाबू तोताराम भारतबंधु-सम्पादक)

सज्जाद-सुंबुल (बाबू केशोराम भट्ट विहारबंधु-संपादक)
शमशाद-सौसन ,,
जय नारसिंह की (पं० देवकीनंदन तिवारी, प्रयाग समाचारपत्र-सम्पादक)
होली खगेश ,,
चक्षुदान ,,
पद्मावती शर्मिष्ठा चन्द्र सेन (पं० बालकृष्ण भट्ट हिंदी-प्रदीप-सम्पादक)
सरोजिनी (पं० गणेशदत्त)
,, (राधाचरण गोस्वामी भारतेन्दु-सम्पादक)
मृच्छकटिक (पं० गदाधर भट्ट मालवीय)
,, (पं० दामोदर शास्त्री)
,, बाबू ठाकुरदयालसिंह)
वारांगनारहस्य (पं० बदरीनारायण चौधरी, आनंद-कादंबिनी के सम्पादक)
विज्ञानविभाकर (पं० ज्ञानी विहारीलाल)
ललिता नाटिका (पं० अंबिकादत्त व्यास साहित्याचार्य्य, वैष्णव पत्रिका और पीयूषप्रवाह के सम्पादक)
देव-पुरुष-दृश्य ,,
वेणीसंहार नाटक ,,
गोसंकट ,,
जानकीमंगल (पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी)

दुःखिनी बाला (बाबू राधाकृष्णदास)

पद्मावती ”

महारास (महाराजाधिराज कुमार लाल खड्ग-बहादुर मल्ल युवराज मझौली राज)

रामलीला ७ कांड (पं० दामोदर शास्त्री, विद्यार्थी-सम्पादक)

बालखेल ”

राधामाधव ”

वेनिस का सौदागर (बाबू बालेश्वरप्रसाद काशीपत्रिका-सम्पादक)

” (बाबू ठाकुरदयालसिंह)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक

(मिश्रबन्धु)

भारतेन्दु के नाटकों का संक्षिप्त विवरण

(१) "नाटक"-नामक ४६ पृष्ठों के लेख में इन्होंने नाटक के लक्षण, नाटक बनाने की रीति तथा नाटक का इतिहास लिखा है। इनके अतिरिक्त और बहुत सी जानने योग्य बातें नाटक के विषय में वर्णित हैं, जो पढ़ने योग्य हैं। इसकी रचना संवत् १६४० में हुई।

(२) "सत्यहरिश्चन्द्र" नाटक संवत् १६३२ में बना। यह आर्य-क्षेमेश्वर-कृत "चंडकौशिक" के आशय पर बनाया गया है ; परन्तु उसका अनुवाद नहीं है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, और भारतेन्दु की उत्कृष्ट रचनाओं में इसकी गणना है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र की सत्य-परीक्षा का वर्णन है। राजों के यहाँ पूर्व काल में जिस प्रकार ऋषियों का आदर होता था, वह इसमें पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। महारानी शैव्या के स्वप्न में आने वाली विपत्ति का दिग्दर्शन करा दिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वप्न में भी

पृथ्वी का दान देने पर दानपात्र के न मिलने से वह विकल थे, और सोचते थे कि इसका क्या प्रबन्ध करूँ? विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की बात से यह साफ़ प्रकट होता है कि विश्वामित्र को पृथ्वी का लेना अभीष्ट नहीं था; वह किसी उपाय से राजा को सत्य-भ्रष्ट करना चाहते थे। ऐसे समय हरिश्चन्द्र के मुख से यह वाक्य कहलाना बहुत ही योग्य और स्वाभाविक था—

"चन्द टरै, सूरज टरै, टरै जगत-व्यौहार;
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै-न सत्य-बिचार।
बेंचि देह-दारा-सुवन होय दास हू मन्द;
रखिहै निज वच सत्य-करि अभिमानी हरिचन्द।"

इस ग्रन्थ में कवि ने विश्वामित्र का तक़ाज़ा, गंगा-वर्णन, हरिश्चन्द्र का स्त्री और अपने को बेचना, श्मशान-वर्णन और रोहिताश्व के मरने पर शैव्या और हरिश्चन्द्र का विलाप आदि स्थल बहुत ही उत्कृष्ट कहे हैं। इस ग्रन्थ में भारतेन्दु की कवित्व-शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। इस नाटक का अभिनय भारतेन्दु के सामने, बलिया में, संवत् १९४० में, हुआ। इसमें ८२ पृष्ठ हैं।

(३) "मुद्राराक्षस" विशाखदत्त-कृत-संस्कृत-नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद इतना बढ़िया हुआ है कि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ से कम आनन्ददायक नहीं है। ग्रन्थ १०६ पृष्ठों का है। इसमें चन्द्रगुप्त को राज्य देने और राक्षस को उनका मन्त्री करा देने के कारण चाणक्य और राक्षस मन्त्री में खूब ही नीति की चोटें चली हैं। अन्त में चाणक्य से हारकर राक्षस को

चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना ही पड़ा। नीति का जटिल विषय होने पर भी इसकी भाषा ऐसी मीठी है कि इसके पाठ करने में बड़ा ही आनन्द आता है।

(४) "धनंजय-विजय" कांचन-कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसमें गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद है। यह भी स्वतन्त्र ग्रन्थ की भाँति मनोहर है। यह १६ पृष्ठों का है। संवत् १९३० में बना।

(५) "कर्पूरमंजरी" को राजशेखर कवि ने प्राकृत में बनाया था। उसी का यह ३२ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १९३२ में बना। इसमें एक प्रेम- कहानी कही गई है। हास्य का भाग विशेष है।

(६) "चन्द्रावली-नाटिका" ख़ास इन्हीं की बनाई है। इसमें किसी ग्रन्थ का अनुवाद या छाया नहीं है। यह ४५ पृष्ठों की है, और इसकी रचना संवत् १९३३ में हुई। इसका समर्पण बहुत ही अच्छा है—

"भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ;
जयति अपूरब-धन कोऊ, लखि नाचत मन मोर।"

यह दोहा इनको बहुत ही पसन्द था, और इनकी बहुत सी रचनाओं में वन्दना के स्थान पर लिखा गया है। इस पुस्तक में भी यह वन्दना में दिया गया है। इस नाटक में चन्द्रावली का प्रेम वर्णित है, और ग्रन्थ आद्योपांत प्रेमालाप से परिपूर्ण है। ऐसा प्रेम से छलकता हुआ कोई दूसरा ग्रन्थ हमने नहीं देखा। इस में सिवा प्रेम के दूसरा वर्णन नहीं है। इसको सर्व-साधारण ने

इतना पसन्द किया कि एक महाशय ने व्रजभाषा में और द्वितीय ने संस्कृत में इसका अनुवाद किया। इस ग्रन्थ में शुकदेवजी, नारद, चन्द्रावली के प्रेम छिपाने, प्रेमोन्मत्तता, यमुना और योगिनी के वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। महात्मा सूरदास और देव के अतिरिक्त हमारा कोई भी कवि प्रेम का ऐसा उत्तम वर्णन करने में समर्थ नहीं हुआ। नाटकों में यह और सत्यहरिश्चन्द्र भारतेन्दु को बहुत पसन्द थे। वास्तव में ये दोनों ग्रन्थ इनकी रचना और भाषा साहित्य के शृंगार हैं। इन ग्रन्थों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि यह महाशय गद्य में भी शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग कर सकते थे। स्टेज पर खेलने में यह नाटक तादृश मनोरंजक नहीं होगा; क्योंकि इसमें विषय-परिवर्तन बहुत कम है, और स्टेज के योग्य कई अन्य बातों का भी अभाव है।

(७) "विद्यासुन्दर" की कथा का वर्णन चौर कवि ने संस्कृत की चौर-पंचाशिका में किया था। उसके आधार पर श्रीयुत यतींद्रमोहन ठाकुर ने बँगला में विद्यासुंदर-नामक नाटक बनाया। उसी ग्रन्थ का अनुवाद भारतेन्दु ने किया। यह ग्रन्थ संवत् १९२५ में, केवल १८ वर्ष की अवस्था में, इन्होंने बनाया; परन्तु फिर भी इसकी भाषा ऐसी मधुर है, और इसमें ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट छन्द हैं कि उनकी प्रशंसा किए बिना रहा नहीं जाता। उदाहरणार्थ इस ग्रन्थ का एक छन्द नीचे दिया जाता है—

"हमहूँ सब जानती लोक की चालन, क्यों इतनो बतरावती हौ;
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखियाँ तुम मेरी कहावती हौ।

'हरिचन्दजू' यामैं न लाभ कछू, हमैं बातन क्यों बहरावती हौ ?
सजनी, मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन को का समुझावती हौ ?"

(८) "भारत-जननी" नाटक किसी अन्य कवि ने भारत-माता नामक बँगला नाटक से अनुवादित किया था। इसको भारतेन्दु ने शोध कर प्रकाशित किया। इसमें भारत-सन्तानों की वर्तमान दुर्दशा का और गौण रूप से भूत गौरव का वर्णन है। इसमें स्वदेशभक्तिपूर्ण एक होली भी बड़ी मनोहर कही गई है। ग्रन्थ १२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, और प्रशंसनीय है।

(९) "भारत-दुर्दशा" इनका स्वतन्त्र नाटक है, जो संवत १९३७ में लिखा गया। इसमें बड़ा ही उग्र एवं हृदयग्राही वर्णन है। भारत की वर्तमान दुरवस्था एवं उसके कारणों का बहुत ही सजीव चित्र खींचा गया है। इसमें इन्होंने फूट, बैर, कलह, सुस्ती, सन्तोष, खुशामद, कायरता, बहु धर्म, छुआछूत, शराब, पुराणों के वाक्य, जाति, ऊँच-नीच, विवाहों में जन्मपत्री का मिलाना, बहु विवाह, बाल-विवाह, अपव्यय, अदालत, फ़ैशन, सिफ़ारिश, उपाधि, विधवा-विवाह न करना, विलायत-गमन की रोक, बहुत देवी, देवता, भूतों और प्रेतों का पूजन इत्यादि बातों की निन्दा की है, और यह व्यक्त किया है कि भारतवर्ष में टिकस, क्षुधा-पीड़ा, अकाल, महँगी, रोग आदि जो विपत्तियाँ हैं, और हिन्दुस्तानी जो काफ़िर, काले, नीच पुकारे जाते हैं, ये सब बातें उपर्युक्त अवगुणों ही के कारण हैं। भारत दुर्दैव और सत्यानाश फ़ौजदार की बातचीत में पहले भारत की वर्तमान दशा का

वर्णन है, तदनन्तर क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा, और अंधकार का प्रवेश हुआ है। इसके पीछे छः हिन्दुस्तानी सभ्यों की एक सभा का वर्णन है, जिसमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक सम्पादक, एक कवि और दो देशी भद्र-पुरुष विद्यमान थे। सभा में सब सभ्यों के व्याख्यान हुए हैं, और कवि ने जिस देश के लोग जैसी हिन्दी बोलते हैं, तथा जिस देश के जैसे विचार हैं, उनका ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया है। इसमें युक्त-प्रदेशीय सभ्यों का बोदापन और कवि की अकर्मण्यता अच्छी दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ में तुलसीदास की चौपाइयाँ बहुत ही मज़ाक के साथ लिखी गई हैं। प्रायः सभी स्थानों पर हास्य-मिश्रित वर्णन किया गया है; परन्तु फिर भी उस हास्य में गूढ़ आशय छिपे हुए हैं। इस ग्रन्थ से भारतेन्दु का अपार देश-प्रेम तथा उत्कृष्ट और ज़ोरदार कविता करने की शक्ति पूर्ण-रूप से प्रकट होती है। यह २२ पृष्ठों का एक बड़ा ही अनोखा ग्रन्थ है।

(१०) "नीलदेवी" एक काल्पनिक नाटक है। इसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ख़ाँ का महाराजा सूर्यदेव पर धावा करने का वर्णन है। अमीर की ओर सब बातचीत शुद्ध उर्दू में वर्णित है। यह २० पृष्ठों का अपूर्व ग्रन्थ संवत् १९३७ में बना। इसमें प्रत्येक वर्णन आद्योपांत बहुत ही अच्छा है। देववाक्य सुनकर रोएँ खड़े हो जाते हैं। पागल का पार्ट बड़ा ही अनोखा है। कवि ने मानो सच्चा पागल लाकर दिखला दिया है। इसमें क्षत्रियों के युद्धोत्साह में कवि ने वीर-रस का चित्र सामने खड़ा कर दिया,

और उद्दण्डता की हद कर दी है। यह नाटक बलिया में भारतेन्दु के सम्मुख खेला भी गया था। इस ग्रन्थ से इनका उत्कट स्वदेश-स्नेह देख पड़ता है, और यह भी प्रकट होता है कि यह वीर-कविता भी परम-मनोहर कर सकते थे।

(११) "माधुरी" सं० १९४० में बनी। बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह किसी अन्य कवि का बनाया हुआ ग्रन्थ है। इसमें वृंदावन का वर्णन है, और केवल ८ पृष्ठों में प्रेम कहा गया है।

(१२) "पाखण्डविडम्बन" संवत् १९२९ में बनाया गया था। यह प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अंक का अच्छा अनुवाद है। इसमें ११ पृष्ठ हैं।

(१३) "अंधेर-नगरी" संवत् १९३८ में बनी। यह १४ पृष्ठों का प्रहसन एक ही दिन में बना था। इसमें सौदा बेचनेवालों की आवाज़ों का एवं मुकद्दमे का वर्णन अच्छा है।

(१४) "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" २० पृष्ठों का छोटा-सा प्रहसन संवत् १९३० में बना। इसमें मांस खानेवालों और मद्यपों की बहुत निंदा है। कवि ने इसमें ब्राह्मणों की भी निंदा की है। इसमें शास्त्रार्थ एवं उन्मत्तता के वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं। इस ग्रन्थ में हास्य-रस का अच्छा कौतूहल है।

(१५) "विषस्य विषमौषधम्" में एक महाराजा के सिंहासन-च्युत होने का इतिहास हास्यमय वर्णन में कहा गया है, और परस्त्रीगमन की निंदा है। यह प्रायः गद्य में ही लिखा गया है।

यह ६ पृष्ठों का ग्रन्थ संवत् १६३३ में बनाया गया। इनके कई अन्य ग्रन्थों की भाँति यह भी मनोहर है।

(१६) "दुर्लभ बंधु" शेक्सपियर-कृत "मर्चेंट आफ् वेनिस" का अनुवाद है। इसमें ८४ पृष्ठ हैं। यह संवत् १६३१ में बना। यह भी एक परमोत्कृष्ट अनुवाद है, और अँगरेज़ी से अनुवादित होने पर भी इसमें भाव बिगड़ने नहीं पाए हैं।

(१७) "सतीप्रताप" एक अपूर्ण नाटक था जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया। इसमें २८ पृष्ठ हैं, और इसका भारतेन्दु-कृत भाग संवत् १६४० में बना। इसमें पतिव्रता-शिरोमणि सावित्री का वर्णन है। पातिव्रत्य का अच्छा चित्र तथा उसका अच्छा फल दिखाया गया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूर्ण भी अच्छा किया है। इसका रूप बिगड़ने नहीं पाया।

(१८) "रत्नावली" में केवल ४ पृष्ठों का अनुवाद संवत् १६२५ में हुआ था और फिर यह अपूर्ण रह गया।

(१६) "प्रेमयोगिनी" एक बड़ा ही विशद ग्रन्थ बन रहा था, परन्तु दुर्भाग्यवश वह अपूर्ण ही रह गया। इसका केवल प्रथम अंक बना है, जिसमें २३ पृष्ठ हैं। इस नाटक में भारतेन्दु अपने विषय में बहुत कुछ लिख रहे थे। इसके नायक रामचन्द्र स्वयं वही हैं। समस्त ग्रन्थ बहुत बड़ा होता, और इसमें उनके चित्त की वृत्तियाँ बहुत कुछ जान पड़तीं; परन्तु शोक है कि यह अमूल्य ग्रन्थ अपूर्ण रह गया। इसमें बनारसी, महूला की, मारवाड़ी और गुजराती भाषाओं में कविता की गई है। इसमें रोज़ की बोल-

चाल तथा साधारण घटनाओं का कथन है, और इस कारण बड़ा ही स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वर्णन है। यद्यपि यह महाशय वल्लभीय सम्प्रदाय के थे, तथापि इन्होंने गोस्वामी के निकृष्ट आचरणों की यह कहकर निंदा कराई है कि "भाई! मालो लूटैं, मेहरुवौ लूटैं।" इसमें काशी की निंदा और स्तुति बड़ी बढ़िया कही गई है। इसी भाँति मिसिर, झपटियाँ और कहारों की बात-चीत एवं झूरीसिंह और दूकानदारों की मज़ाक़ बहुत अच्छी है। यह ग्रन्थ बहुत ही अनोखा और प्राकृतिक है। इसकी कविता बहुत ही मनोहर एवं औवल दर्जे की है। यह ग्रन्थ संवत् १९३२ में बनी; परन्तु न जाने क्यों अपूर्ण रह गया।

हम हरिश्चन्द्र के नाटकों का सूक्ष्म परिचय ऊपर दे चुके। हमें शोक है कि स्थानाभाव के कारण विस्तार-पूर्वक इनके किसी भी ग्रन्थ की आलोचना हम नहीं कर सके। अब हम भारतेंदु की कविता के कुछ गुण नीचे लिखते हैं—

(१) इनके काव्य में सबसे अधिक और उत्तम वर्णन प्रेम का है। इन्होंने ऐसा अनोखा हृदय पाया था कि उसमें प्रेम की मात्रा अथाह थी। अतः इनके सब लेखों में उसी की विशेषता रहती थी। इसके उदाहरण "चंद्रावली-नाटिका", है। इनमें ईश्वरीय तथा सांसारिक, दोनों प्रकार का प्रेम विशेष रूप से था और इन दोनों प्रकार के प्रेमों के वर्णन इनके काव्य में हर जगह मौजूद हैं।

(२) इनको हिंदूपन और जातीयता का सदैव बड़ा ध्यान रहता था। इतना अधिक स्वदेशाभिमान शायद ही किसी में उस समय हो। स्वदेश-प्रेम से इन कविवर का हृदय परिपूर्ण था।

भारतेंदु के बराबर हिंदुस्तान के दोषों पर आँसू बहानेवाला, उसके महत्त्व पर अभिमान करनेवाला कोई भी अन्य कवि हिंदी के साहित्य में न होगा। हिंदुस्तान के विषय में इन्होंने बहुत ही प्रेम-गद्गद होकर काव्य किया है। यह पुरुषरत्न हिंदी, हिंदू और हिन्दुस्तान के वास्ते कल्पवृक्ष हो गया है। हास्य के ग्रन्थों तक में इन्होंने देश-हित का चिंतन नहीं छोड़ा। "नीलदेवी" और "भारत-दुर्दशा"-ग्रन्थ इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

(३) इनकी कविता में हास्य की मात्रा भी अधिक रहती थी। इन्होंने उसका प्रयोग ऐसी रीति से किया है कि वह कविता बहुत ही उत्कृष्ट मालूम होती है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" और "अंधेर-नगरी" तो मानो इसके रूप हैं। और-और जगहों पर भी इसकी मात्रा बहुत पाई जाती है।

(४) इनके काव्य में ज़ोरदारी (Force) भी बहुत अधिक है। भाषा-कवियों में से बहुत कम की रचना में इतना ज़ोर पाया जाता है। "नीलदेवी" और "भारत-दुर्दशा" में इसके उदाहरण अधिकता से मिलेंगे।

(५) इनमें विविध विषयों की यथावत् प्रकार से वर्णन करने की शक्ति बहुत प्रबल थी। इन्होंने प्राकृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के वर्णन बहुत ही प्रकृष्ट किए हैं। सौंदर्य के तो यह उपासक ही थे, अत: प्रत्येक विषय में सुन्दरता पर इनकी निगाह पहुँच जाती थी। इसके उदाहरण सभी स्थानों पर मिलते हैं। फिर भी गंगा, यमुना, काशी, शुकदेव, नारद, श्मशान, हरिश्चन्द्र का बिकना आदि के वर्णन और सभा के व्याख्यान, झपटिया, दलाल

इत्यादि की बातचीत विशेष रूप से द्रष्टव्य है। जैसे जी लगाकर इन्होंने रचना की, वैसे ही इन्हीं के सामने प्रायः इनके सभी नाटकों के अभिनय भी हो गए।

(६) इन्होंने अपनी कविता में रूपकों का समावेश भी विशेष रूप से किया है। उदाहरण-स्वरूप चन्द्रावली-नाटिका में योगिनी और वियोगिनी का रूपक देखिए।

(७) इन महाशय ने पुरानी प्रथा के नायिका, अलंकार, छंद और रीति आदि विषयों पर एक भी ग्रन्थ नहीं बनाया। रसों में इन्होंने ६ पुराने रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द नाम के चार नए रस माने, जिनको कुछ पण्डितों ने भी प्रमाणिक समझा। इसी प्रकार शृंगार-रस में भी इन्होंने कई नए भेद माने हैं, जिनका विशेष वर्णन इनकी जीवनी (खड्गविलास प्रेसवाली) के ११८ पृष्ठ में हुआ है। इसी जीवनी में इनके ग्रन्थों का समय भी दिया हुआ है।

(८) इन्होंने राजनीतिक और सामाजिक सुधारों पर भी बहुत कुछ बातें लिखी हैं, जो इनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलतीं और भारतदुर्दशा-नाटक में विशेष रूप से पाई जाती हैं। धार्मिक सुधारों का भी इन्होंने वर्णन किया है।

(९) इन्होंने पद्य में व्रजभाषा का और गद्य में खड़ी बोली का विशेष आदर किया है। तो भी उर्दू, खड़ी बोली, व्रज-भाषा, मारवाड़ी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, मराठी, राजपूतानी, बनारसी, अवधी आदि सभी भाषाओं में इन्होंने काव्य किया है, जो प्रायः

सरस है। इन्होंने गद्य और पद्य प्राय: बराबर लिखे हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

सत्यहरिश्चन्द्र

"अहा! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक तथा वैदिक, दोनों कर्मों का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगण का दीपक और काल-सर्प की शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गवाँकर, देखो, समुद्र में गिरा चाहता है।"

प्रेमयोगिनी

"झपटिया—कहो मिसरजी, तोरी नींद नहीं खुलती, देखो संखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजते रहे।

मिश्र—चले तौ आइत्थै, अधियै राति के संखनाद होय, तौ हम का करैं? तोरे तरह से हम हूँ के घर में से निकसि के मन्दिर में घुस आवना होता, तौ हम हूँ जल्दी अउते। हियाँ तौ दारानगर से आवना पड़त है। अबहीं सुरजौ नाहीं उगे।

झपटिया—का हो जगेसर! ई नाहीं कि जब संखनाद होय, तब झटपट अपने काम से पहुँचि जावा करौ।

जलधरिया—अरे चल्ले तौ आवत्थई। का भहराय पड़ी! का सुत्तल थोरै रहली? हमहूँ के झापट कंधे पर रख के यहर-ओहर घूमै के होतै तब न! हियाँ तो गगरा ढोवत-ढोवत कंधा छिल जाला।"

चन्द्रावली

"अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है ? कोई नेमधर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार ही को सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है, और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रहस्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप-से-आप खुल जाता है, किसी को नहीं मिली। मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी जो लोग धार्मिक कहाते हैं उनका चित्त स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छा-रूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुकैं। अहा ! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है, और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांङ्ग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं। धन्य है, धन्य ! और दूसरा ऐसा कौन है ?"

भारतदुर्दशा

"मदवा पी लै पागल; जोवन बीत्यो जात ;

बिनु मद जगत सार कछु नाहीं, मानु हमारी बात ।
पी प्याला छक-छक आनँद सों नितहि साँझ अरु प्रात ;
झूमत चलु डगमगी चाल से मारि लाज को लात ।
हाथी मच्छड़, सूरज जुगनू, जाके पिए लखात ;
ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात ।"

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

"पी ले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम-हरी-रस का रे ;
धिधिकिट धिधिकिट धिधिकिट धाधा बजै मृदंग थाप कसका रे।
बहार आई है भर दे बादए-गुलगूँ से पैमाना ;
रहे लाखों बरस साकी, तेरा आबाद मैखाना ।
'सँभल बैठो अरे मस्तो, ज़रा हुशियार हो जाओ ;
कि साक़ी हाथ में मय का लिए पैमाना आता है ।"

नीलदेवी

"सोओ सुख-निदिया प्यारे ललन ।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे ,
सोओ सुख-निदिया प्यारे ललन ।
भई आधी-रात, बन सनसनात,
पसु-पंछी कोउ आवत न जात ;
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन ।
झलमलत दीप सिर-धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत 'हाय' ;

सतरात बैन आलस-जनाय,
सनसन लगि सीरी-पवन चलन।
सोए निसि के सब नींद घोर,
जागत कामी, चिंतित चकोर;
बिरहिनि, बिरही, पाहरू, चोर,
इन कहँ छिन रैनिहु हाय कल न।"

अन्धेर-नगरी

"चूरन आमवेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना, जिसको खाता स्याम सलोना।
हिंदू-चूरन इसका नाम, विलायत-पूरन इसका काम।
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा, कीना दाँत सभी का खट्टा।
चूरन चला दाल की मण्डी, इसको खाएँगी सब रंडी।
चूरन अमले सब जो खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नक़ल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हज़म कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग जिनको अकिल-अजीरन-रोग।
चूरन खावैं एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन पुलिसवाले खाते, सब क़ानून हज़म कर जाते"

भारतेंदु के पहले हिंदी में नाटकों का अभाव-सा था, और स्वतन्त्र नाटक का परमोत्कृष्ट ग्रन्थ एक भी न था। इन महाकवि ने इस त्रुटि के दूर करने का पूरा प्रयत्न किया, और एक-एक करके १८ नाटक-ग्रन्थ बनाए, जिनमें से, कहा जाता है, दो इनके

नहीं हैं। इनमें से ६ ग्रन्थ ख़ास इन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं, और शेष संस्कृत से अनुवादित। एक अंगरेज़ी का भी अनुवाद है। इनके अनुवादों में ऐसा आनन्द आता है, जैसा स्वतन्त्र ग्रन्थों में आना चाहिए। हम मुक्तकंठ होकर कहेंगे कि ऐसा उत्तम अनुवादकर्ता भाषा-कवियों में कोई भी नहीं हुआ। वर्तमान कवियों में गद्यानुवाद कई लोग ऐसा ही कर लेते हैं; परन्तु पद्य-विभाग में भी रोचक अनुवाद करना इन्हीं का हिस्सा था।

इनके स्वतन्त्र नाटकों में सभी अत्युत्कृष्ट हैं। परन्तु, उनमें भी, सत्यहरिश्चन्द्र, चन्द्रावली और नीलदेवी बहुत ही श्लाघ्य बने हैं। यह कहना कि भाषा में ऐसे नाटक किसी ने नहीं बनाए, इनकी कोई प्रशंसा नहीं करना है; क्योंकि भाषा में कोई दूसरा बढ़िया नाटककार अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ। इन नाटकों की गणना संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों के साथ हो सकती है। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नहीं कर सकते। भारत-दुर्दशा और प्रेम-योगिनी भी अपने ढङ्ग के अपूर्व नाटक हैं। सती-प्रताप से भारतीय स्त्री-धर्म का उच्चातिउच्च विचार प्रकट होता है। अंधेरनगरी और वैदिकी हिंसा भी अच्छे मनोरंजक प्रहसन हैं, यद्यपि ये बँगला के अनुवाद हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटक-रचना

—

(श्यामसुन्दर दास)

वास्तव में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की कृतियों से हिंदी में नाट्य-साहित्य का आरम्भ होता है। इनके बनाए १४ नाटक हैं, जिनमें ५ अनुवादित, ७ मौलिक और २ अपूर्ण हैं। अनुवादित नाटकों में विद्यासुंदर, पाखण्ड-विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी और मुद्रा-राक्षस हैं। पहला तो बँगला से अनुवादित हुआ है और शेष चारों संस्कृत या प्राकृत से। इनके सम्बंध में किसी प्रकार के विवेचन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि इनके मौलिक न होने के कारण इन पर विचार करने से कवि के हृदय और मस्तिष्क को जानना असम्भव है। फिर भी इनके सम्बंध में बिना किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि इन अनुवादों में भी मौलिकता का आनन्द आता है। पढ़नेवाले को यह पता नहीं लगने पाता कि हम कोई अनुवाद-ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। मेरी समझ में इन पाँचों नाटकों में सबसे अच्छा अनुवाद कर्पूर-मंजरी का हुआ है और उसके अनन्तर मुद्राराक्षस का स्थान है।

विद्यासुंदर तो बँगला से अनुवादित हुआ है और वह १८ वर्ष की अवस्था में लिखा गया है। उसकी भाषा में प्रौढ़ता का अभाव है। हाँ, कर्पूर-मंजरी में प्रौढ़ता, मधुरता और सुंदरता स्पष्ट देख पड़ती है और अनुवाद ऐसा अच्छा हुआ है कि पढ़नेवाले को यह मालूम नहीं होने पाता कि हम कोई अनुवाद-ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। उसमें मौलिकता का आनन्द आता है।

मौलिक नाटकों में सबसे पहले संवत् १९३० में, जब कि भारतेंदुजी की आयु केवल २३ वर्ष की थी, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा गया था। इस प्रहसन में मदिरा तथा मांस सेवन करने वालों की पोल खोली गई है और विधवा-विवाह आदि के सम्बन्ध में व्यंग्य से टीका-टिप्पणी की गई है। उस समय के समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के पक्ष-पातियों और पण्डितों की दिल्लगी उड़ाई गई है। एक स्थान पर लिखा है "जिन हिन्दुओं ने थोड़ी भी अँगरेज़ी पढ़ी है वा जिनके घर में मुसलमानी स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आज़ाद हैं।" नहीं कह सकते कि भारतेंदुजी का यह कटाक्ष स्वयं अपने ऊपर है या किसी दूसरे पर। यमराजपुरी के वर्णन में राजा के सम्बंध में चित्रगुप्त से कहलाया गया है कि इसने "जो कुछ किया है वह केवल वितंडा कर्मजाल किया जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले; परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी व्यय नहीं की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।" इस पर यमराज कहते हैं—"प्रतिष्ठा कैसी? धर्म और प्रतिष्ठा से

क्या सम्बंध ?" इसका प्रत्युत्तर चित्रगुप्त यह देते हैं—"सर्कार अँगरेज़ के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको 'स्टार आफ़ इंडिया' की पदवी मिलती है।" स्पष्ट है कि यह आक्षेप राजा शिवप्रसाद पर है। यद्यपि भारतेंदु जी राजा शिवप्रसाद को गुरुवत् मानते थे और मुद्राराक्षस का समर्पण भी राजा साहब ही को करते हुए उन्होंने लिखा है—"परम-श्रद्धास्पद श्रीयुक्त राजा शिवप्रसाद बहादुर, सी० एस० आई० के चरण कमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्य-भाजन छात्र द्वारा बना हुआ यह ग्रन्थ सादर समर्पित हुआ"; पर उनमें और राजा साहिब में कभी आंतरिक प्रेमभाव नहीं रहा। जिस समय अपने स्वतंत्र विचारों और कार्यों के कारण भारतेंदु-जी ब्रिटिश गवर्मेण्ट के कोपभाजन हुए उस समय अग्नि में आहुति देने का काम प्रायः राजा साहब ही करते थे। इस अवस्था में आपस में यदि आंतरिक वैमनस्य रहा हो और वह समय-समय पर फूट निकलता हो, तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है ? इस प्रहसन में केवल राजा साहब ही पर कटाक्ष किया गया हो सो बात नहीं है, स्वामी दयानंद, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राजेन्द्रलाल मित्र कोई भी बचने नहीं पाए हैं—सब पर छींटे फेंके गए हैं। इस प्रहसन से उस समय की सामाजिक और धार्म्मिक परिस्थिति का कुछ-कुछ पता चलता है।

भारतेंदुजी का सबसे प्रसिद्ध मौलिक नाटक "सत्यहरिश्चंद्र" है। कुछ लोगों का कहना है कि यह आर्य क्षेमीश्वर के 'चंडकौशिक'

नाटक का छायानुवाद है। पर उसमें और इसमें कई बातों में अन्तर है। 'सत्यहरिश्चंद्र' में नाटक का आरम्भ इंद्र के द्वेषभाव से होता है। वही विश्वामित्र को उत्तेजित करके राजा हरिश्चंद्र की परीक्षा लेने और उन्हें धर्मच्युत करने के लिए उद्यत करता है। पर 'चंडकौशिक' में राजा हरिश्चंद्र विश्वामित्र को एक कन्या का बलिदान देते देखकर उनकी भर्त्सना करते हैं और विश्वामित्र के शाप देने पर समस्त पृथ्वी का दान देकर उस शाप से मुक्ति पाते हैं। पौराणिक काल में सब ऋषियों और तपस्वियों के तपोभंग का मूल कारण इंद्र ही बताया गया है और उसी आधार पर भारतेंदुजी ने भी इस नाटक की घटनाओं को खड़ा किया है। इस नाटक का उद्देश्य राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-प्रतिज्ञा की महिमा दिखाना है। वे भाँति-भाँति के कष्ट सहते हैं और उनकी विकट परीक्षा होती है पर वे अपने निर्धारित पथ से डिगते नहीं, उसपर दृढ़ रहते हैं और अन्त में परम पद पाते हैं। इस प्रकार 'सत्य-हरिश्चन्द्र' और 'चंडकौशिक' के मूल आधार में ही बड़ा अंतर है, अतएव एक को दूसरे का अनुवाद कहना अनुचित है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भारतेंदुजी ने आर्य क्षेमीश्वर के नाटक को देखा था और उसकी बहुत सी बातों का उपयोग भी अपने नाटक के निर्माण में किया है। उदाहरणार्थ गंगा और काशी आदि की शोभा का वर्णन, श्मशान और चांडालों आदि का वर्णन सब निज का है; और कुछ श्लोक तथा दो-चार और बातें चंडकौशिक नाटक से ली गई हैं।

नाट्यशास्त्र में नाटक लिखने या अभिनय करने के लिए जिन

नियमों का निर्धारण किया गया है उनसे भारतेन्दुजी पूर्णतया परिचित नहीं जान पड़ते। युरोप के नवीन ढंग के नाटकों का प्रचार उनके समय में हो गया था ; पर उनकी कला के सम्बंध में भी उनका ज्ञान उतना ही था जितना एक पढ़े-लिखे नाटक देखने वाले का हो सकता है। उसमें भी उनकी विशेषज्ञता नहीं थी। तिस पर भारतेन्दुजी की शिक्षा साधारण थी। जो कुछ ज्ञान-संचय उन्होंने किया था, वह अपनी अलौकिक प्रतिभा के ही कारण। इसलिए नाट्य-कला के अनुसार उनकी कृतियों का विवेचन करना व्यर्थ है। जैसे कोई कुशल कारीगर कोई सुंदर वस्तु बनाता है तो हमें यह जानने की उत्सुकता होती है कि किन-किन उपादानों का प्रयोग करके वह इस प्रकार सफल हो सकता है, इसी प्रकार नाटककारों की प्रयोगशाला की जांच-पड़ताल की जाती है और इससे उनकी निपुणता, उनके कौशल, उनके व्यावहारिक ज्ञान, उनके सांसारिक अनुभव तथा उनके शास्त्रीय अनुशीलन आदि का पता लगाया जाता है। भारतेन्दुजी की कोई प्रयोगशाला ही नहीं थी जिसकी जाँच-पड़ताल की जा सके। जो कुछ था वह उनकी अलौकिक प्रतिभा, उनकी तीव्र बुद्धि और उनका असीम देशप्रेम तथा उसके लिए अपने सर्वस्व को आहुति दे देने की तत्परता थी। ये सब गुण आदरणीय होने पर भी किसी कवि या ग्रन्थकार की काव्य-विषयक प्रतिष्ठा के कारण नहीं हो सकते। जान पड़ता है कि भारतेन्दुजी न तो भारतीय नाट्यशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और न युरोपीय नाट्यशास्त्र का उनको व्यावहारिक या शास्त्रीय ज्ञान था। यदि कोई कहे

कि 'नाटक' नामक निबन्ध लिखनेवाले भारतेन्दुजी को नाट्य-शास्त्र का ज्ञान कैसे नहीं था, तो इसका उत्तर यही है कि वह पुस्तक पूरी-पूरी उनकी लिखी नहीं है; और यह बात स्वयं उसकी भाषा से भी सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसका रचना-काल संवत् १६४० है। जो कुछ रचनाएँ वे कर सके अथवा उनमें सफलता प्राप्त कर सके उनका मूल आधार उनकी प्रतिभा थी। नाटकों में भारतीय और युरोपीय नाट्यशास्त्रों से जो बात उन्हें जँची उसे उन्होंने ले लिया और अपने ढंग से उनका उपयोग किया। इस कार्य में भी विलक्षणता या विशेषता हो सकती है और इसका करनेवाला एक नए ढंग का संस्थापक हो सकता है; पर भारतेन्दुजी यह कार्य भी न कर सके। उन पर नए ढंग के बँगला नाटकों तथा पारसी कंपनियों में खेले जानेवाले नाटकों का प्रभाव पड़ा और उनके अनुकरण पर हिन्दी नाटकों को किंचित् परिमार्जित और सुचारु रूप देने में ही उनकी कृति का महत्त्व है, अथवा इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि उन्होंने हिंदी में नाटकों का बीजारोपण किया और उस कार्य के लिये पूर्व तथा पश्चिम से सामग्री का संग्रह किया। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में न तो हमें अर्थप्रकृतियों का ही पता लगता है, न अवस्थाओं का और न संधियों का। यों खींच-तानकर कुछ बातें निकाली जा सकती हैं पर वे समालोचक की उपज मात्र होंगी, उनमें वास्तविकता का अंश बहुत ही थोड़ा होगा। इस नाटक का उद्देश्य तो भारतीय नाटकों के ढङ्ग पर है और आख्यान भी पौराणिक है; पर नाटक की रचना युरोपीय ढङ्ग पर की गई है। वह बहुत कुछ

आजकल के स्टेजों पर खेलने के लिये बनाया गया है। इस नाटक के पढ़ने से हमें यह नहीं विदित होता कि वास्तव में उसका नायक कौन है—हरिश्चन्द्र या विश्वामित्र ? आधिकारिक फल को प्राप्त करनेवाले तो राजा हरिश्चन्द्र ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि विश्वामित्र की अंत में हार दिखाई जाती है। पर राजा हरिश्चन्द्र किस फल की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते हैं ? उनका तो मूल सिद्धांत यही है कि "चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार। पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को, टरै न सत्य विचार ॥" यहाँ सत्य विचार ही कौन था ?—एक स्वप्न की बात थी। स्वप्न को सत्य मानकर और उसी के कारण भिखारी बनकर स्त्री-पुत्र सहित जगह-जगह टक्करें मारते फिरना—और वह भी केवल किसी दूसरे की प्रेरणा से—फल की प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। फिर हरिश्चन्द्र का न कहीं प्रयत्न देखने में आता है और न प्राप्त्याशा या नियताप्ति का ही कहीं पता लगता है। उनका सारा प्रयत्न अपनी सत्य-प्रतिज्ञा की रक्षा ही में देख पड़ता है, जो उनका स्वतः सिद्ध उद्देश्य और जीवन-व्रत था। क्रियाशील तो विश्वामित्र देख पड़ते हैं, हरिश्चन्द्र तो अकर्मण्य की भाँति जो-जो सिर पड़ता है उसे चुपचाप सहते जाते हैं। उनका जो कुछ प्रयत्न स्पष्ट देख पड़ता है वह केवल अपने को तथा अपनी स्त्री को बेचकर दक्षिणा का एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा देना है। युरोपीय सिद्धांतों के अनुसार, और विशेषकर यूनान के प्राचीन दुःखांत नाटकों (ट्रेजिडी) के अनुकूल, दो भावों का संघर्ष स्पष्ट देख पड़ता है। राजा हरिश्चन्द्र अपने सत्य पर अटल हैं, विश्वामित्र उन्हें उससे च्युत करना चाहते हैं। सब

देवी-देवता विश्वामित्र की सहायता करते हैं, केवल सूर्य समय-समय पर चेतावनी देकर राजा हरिश्चन्द्र को सचेत करते रहते हैं जिसमें वे अपने सिद्धांत से गिरने न पावें। यह घोर संघर्षण अंत तक चलता है; पर अंत में राजा की जय होती है; सब देवी-देवता आकर उनका आश्वासन करते और उन्हें परीक्षा में उत्तीर्ण पाकर बधाई देते हैं। अतएव इसमें हम प्राचीन यूनानी ट्रेजिडी के तत्वों को स्पष्ट देखते हैं। यह नाटक करुणरस-प्रधान माना जाता है; पर नाटकों में करुण रस का संचार वहीं तक उपयुक्त और आवश्यक माना जाता है कि जहाँ तक वह किंचित् शोक तो उत्पन्न कर सके, पर क्षोभ का कारण न हो। वह इतना ही चाहिए जितने में आनंद का साधक हो सके। शैव्या का विलाप सीमा से बाहर हो गया है। वह जितना चाहिए उससे कहीं अधिक है। बँगला के नाटक-शिल्पी गिरीश घोष की भाँति भारतेन्दुजी ने इस करुण रस के उद्रेक में यही कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि नाटक देखकर सामाजिक खूब रोएँ। नाटक का आरम्भ विश्वामित्र और इंद्र आदि की बात-चीत से होता है; प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, अथवा विकास, चरम सीमा और निगति का कहीं ठीक-ठीक पता नहीं लगता और अंत में फलागम इतना शीघ्र हो जाता है कि देखनेवाला अचंभे में रह जाता है। कार्य-व्यापार का चढ़ाव-उतार क्रमशः होना चाहिये; पर इसमें चढ़ाव में नाटक का अधिक अंश लग जाता है, उतार बहुत शीघ्रता से होता है। भारतेन्दुजी ने इस नाटक में जिस काशी का वर्णन किया है वह उनके समय की काशी है, न कि राजा हरिश्चन्द्र के समय की। इसके अतिरिक्त

यह भी विचारणीय है कि राजा हरिश्चन्द्र भगीरथ के पूर्वजों में थे। यह बात पुराणसिद्ध है कि भगीरथ ही गंगा को लाए थे और इसी लिये उसका नाम भगीरथी पड़ा। फिर हरिश्चन्द्र के समय में काशी को स्पर्श करती हुई गंगा कैसे प्रवाहित हो सकती है? इस वर्णन से देश-काल-दोष आ गया है।

अब यदि व्यावहारिक दृष्टि से, अभिनयत्व के विचार से, इस नाटक पर विचार किया जाय तो इसमें और भी कई दोष देख पड़ते हैं। अभिनय करने के उद्देश्य से जो नाटक लिखे जाते हैं उनमें एक साधारण बात यह रहती है कि क्रमशः ज्यों-ज्यों अभिनय होता चलता है त्यों-त्यों अंक छोटे होते जाते हैं। इस नियम का कारण भी है। आरंभ में नाटक देखनेवाले अभिनय देखने के लिये उत्सुक रहते हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों आलस्य और थकावट आती जाती है। अतएव उनकी रुचि को अंत तक बनाए रखने के लिये शीघ्र-शीघ्र अंकों के समाप्त करने की आवश्यकता होती है। इस बात को स्वयं भारतेन्दुजी ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये भारतेन्दुजी द्वारा अनुवादित 'कर्पूरमंजरी' और 'मुद्राराक्षस' को ले लीजिए। यदि हम यह मान लें कि 'कर्पूर-मंजरी' का अभिनय दो घण्टे (= १२० मिनिट) में समाप्त हो सकता है तो पहला और दूसरा अंक ३८, ३८ मिनिट में समाप्त होगा और तीसरा तथा चौथा २२, २२ मिनिट में। इसी प्रकार यदि यह मान लें कि 'मुद्राराक्षस' का अभिनय पाँच घण्टे में किया जा सकता है तो प्रत्येक अंक में क्रमशः ५२, ५२, ४७, ४०, ४८, ३४ और

२७ मिनिट लगेंगे। पर सत्यहरिश्चन्द्र नाटक को देखिए। यदि हम यह मान लें कि इस नाटक का अभिनय तीन घण्टे में किया जा सकता है तो इसके चारों अंकों का अभिनय करने में क्रमशः २५, ३०, ४० और ८५ मिनिट लगेंगे। अभिनय करने के लिये जो नियम सबसे आवश्यक है उसका यदि 'सत्यहरिश्चन्द्र' को एक विशेष अपवाद मान लें तो दूसरी बात है, नहीं तो इस दृष्टि से यह सर्वथा दोषपूर्ण है।

अच्छा, अब दूसरी दृष्टि से इस पर विचार कीजिए। पहले अंक में इंद्रसभा का वर्णन है और उसकी समाप्ति पर परदा गिराया जाता है। दूसरे अंक का आरंभ राजा हरिश्चन्द्र के राजप्रासाद से होता है और सामाजिकों के सम्मुख रानी शैव्या बैठी हुई और उसकी एक सहेली बगल में खड़ी हुई दिखाई जाती है। किसी अंक के अंत में जब परदा गिरता है तब उसके दृश्य को लेकर दूसरे अंक का अभिनय आरंभ होता है। यदि यह मान लिया जाय कि भारतीय प्राचीन पद्धति के अनुसार प्रत्येक अंक की समाप्ति पर अंतिम परदा (ड्राप-सीन) गिरता है तो दूसरी बात है; पर उस अवस्था में एक अंक और उसके पीछे आनेवाले अंक की व्यापार-शृंखला प्रायः छिन्न कर दी जाती है और उस अवच्छेद के भाव को दूर करने के लिये विष्कंभक आदि काम में लाए जाते हैं। किंतु इस नाटक में ऐसा नहीं है। तीसरे अंक के आरंभ में एक 'अंकावतार' दिया गया है। अंकावतार में एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहती है, केवल अंक के अंत में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरंभ में पुनः आ जाते हैं। इस

अंकावतार में इस नियम का पालन नहीं किया गया है। इसे विष्कंभक कहा जाय तो कुछ उपयुक्त होगा। सारांश यह कि इस नाटक में भारतीय पद्धति का अनुकरण नहीं किया गया है। इस अवस्था में पहले अंक के परदे के गिरने के साथ ही राजप्रासाद का दृश्य कैसे उपस्थित हो सकता है और रानी तथा उसकी सहेली बैठी या खड़ी हुई कैसे दिखाई जा सकती है ? इसी प्रकार तीसरे अंक की समाप्ति पर पुनः परदा गिरना है और चौथे अंक का आरंभ दक्षिण श्मशान पर होता है, जहाँ उसके उपयुक्त दृश्य के उपस्थित करने का उल्लेख है। भारतेन्दुजी ने इस नाटक में जहाँ-तहाँ पात्रों की वेष-भूषा आदि का संकेत दे दिया है जिससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वे इस नाटक को अभिनय के उपयुक्त समझते थे। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका भली भाँति अभिनय करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित हो सकता है कि भारतेन्दुजी को दृश्य काव्य का न तो पूरा-पूरा साहित्यिक ज्ञान था और न व्यावहारिक, तथा उन्होंने युरोपीय और भारतीय पद्धतियों के भेदों को भी पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं किया था। पर थे वे एक निपुण लेखक और अच्छे कवि; इसलिये उनकी कृतियों के ये सब दोष छिप जाते हैं और पाठक उनके नाटकों को पढ़कर तथा उसके मूल-भाव से मुग्ध होकर आनन्द प्राप्त करते हैं। भारतेन्दुजी के जीवनचरित लिखने-वालों ने उनके पात्र बनकर अभिनय करने का उल्लेख किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि वे अभिनय के सब उपादानों से

अभिज्ञ थे। वे स्वयं कुशल पात्र बन सकते हों; पर वे कुशल सूत्रधार, स्थापक या नाटक-रचना की संधियों से विज्ञ लेखक नहीं थे।

भारतेन्दुजी की चन्द्रावली नाटिका भी उनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थों में से है। इसका संस्कृत तथा व्रजभाषा में अनुवाद हुआ था और यह भारतेन्दुजी को थी भी बहुत प्रिय। वे इसका अभिनय भी करना या कराना चाहते थे; पर उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। इसमें संदेह नहीं कि इस नाटिका की भाषा बड़ी ही मधुर और परिमार्जित है तथा इसमें उज्ज्वल प्रेम का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेन्दुजी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिंब है, वह उनके धार्मिक जीवन की प्रतिछाया है जिस प्रकार चन्द्रावली श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग में बावली हो उठी है और सदा उन्हीं के ध्यान में निमग्न रहती है उसी प्रकार भारतेंदुजी भी श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद के भक्तिसागर में सदा डुबकियाँ लगाकर उनकी खोज में लगे रहते थे और सदा उनके पाने की अभिलाषा में तल्लीन रहते थे। पर साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टि से यदि इस नाटिका का विवेचन किया जाय तो इसमें से अस्वाभाविकता स्थान स्थान पर टपकी पड़ती है। आरंभ ही में शुकदेवजी और नारदजी आते हैं और व्रज की प्रेमलीला का आनंद लेने के लिये वहाँ जाते हैं। फिर कहीं पता भी नहीं लगता कि इनका क्या हुआ। दूसरे अंक में चंद्रावली ने बड़ी लंबी-चौड़ी वक्तृताएँ दी हैं जो सर्वथा अस्वाभाविक जान पड़ती हैं। यही बात

अन्य अंकों में भी मिलती है। संध्या और वर्षा के जो प्राकृतिक दृश्य बीच बीच में अंकित किए गए हैं वे केवल उद्दीपन का कार्य करते हैं; कहीं भी इन प्राकृतिक दृश्यों को चंद्रावली के मानवी जीवन का अंग बनाकर प्रकृति का और उसके हृदय का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया। एक विचित्र आदर्श भी उपस्थित कर दिया गया है। कहाँ तो चंद्रावली की माता उसका बाहर आना-जाना बंद कर देती है और कहाँ योगिनी का वेष धारण किए हुए श्रीकृष्णचंद्र के आने तथा अपना वास्तविक रूप प्रकट करने पर ठीक उसी समय माता का यह सँदेसा भी आ जाता है कि "स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कहि दै चंद्रावली की कुंज में सुखेन पधारौ।" न जाने किस आदर्श को सामने रखकर इस नाटिका के पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है।

'विषस्य विषमौषधम्' तो हमें भारतेंदुजी की रुचि और प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल जान पड़ता है। बाबू शिवनंदनसहाय इस भाण की वस्तु का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—"श्रीमहाराज मल्हारराव गायकवाड़ बड़ोदाधीश ने अपने किसी अत्यंत असंगत और कुत्सित व्यभिचार के प्रकट हो जाने पर रुष्ट होकर रेज़िडेंट के साथ अयोग्य बर्ताव किया था। उसी का सर्कार ने एक कमीशन द्वारा अनुसंधान कराके महाराज को राजच्युत करने की आज्ञा दी थी। यही विषय इस भाण में वर्णित किया गया है। इसमें कवि ने सर्कार की कार्रवाई की बड़ी प्रशंसा की है। यह उपदेशमय भाण पढ़ने योग्य है, इससे बड़ोदा का संक्षिप्त पुरावृत्त भी ज्ञात हो जाता है। इसके आदि में यह दोहा है—

परतिय-रत रावन बध्यो, परधन-रत तिमि कंस।
राम कृष्ण जय सूर ससि, करत मोह-अघ-ध्वंस॥

"इसमें कविने भंडाचार्य के मुख से सब कुछ कहवाया है। वह कहता है—'हमारी दशा भी अब रावण की हुआ चाहती है, तो क्या हुआ, होय।

रावन ने दस सिर दिए, जनकनंदिनी काज।
जौ मेरो इक सिर गयो, तो यामें कह लाज॥

"देखो, परस्त्री संग से चंद्रमा यद्यपि कलंकित है तौ भी जगत् को आनंद देता है, वैसे ही (मोछों पर हाथ फेरकर) हम बड़े कलंकित सही, पर हमीं इस नगर की शोभा हैं। भला दुष्ट बाबाभट्ट! क्या हुआ; तुमने हमारा सब भेद खोल दिया। यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें और कृष्णाबाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य नहीं।"

"फिर भंडाचार्य ऊपर देखते और दुराचार की कहानी कहते-कहते यह कह उठता है—'अहा स्त्री वस्तु भी ऐसी ही है—

पुरुषजनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावन्यसुजल बल जाको विरचि चलायो है॥
कमर कमानी बार तार सों सुंदर ताहि सजायो है।
धरम घड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है॥

"यह तो कल के अर्थ में यंत्र हुआ अब हिंदुस्तानी तंत्र के यंत्र का वर्णन सुनिए—

पुरुषजनन के मोहन को यह मंगल यंत्र बनायो है।
कामदेव के बीज मंत्र सों अंकित सब मन भायो है॥

अहया दिवारी कारी चौदस सारी रात जगायो है।
सिद्ध भयो सबको मन मोहत नारी नाम धरायो है॥

" इसी मंत्र के अनुष्ठान का यह फल है—'...स्त्री और बिजली जिसे छू गई वह गया...महाराज गद्दी से उतारे गए।' "*

अंत में कहा है—"कोई हमारे सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे वह झख मारे। यदि ऐसे लोगों को उचित दंड न हो तो ये लोग न-जाने क्या अनर्थ करें......धन्य सरकार.........दूध का दूध पानी का पानी।" अंतिम प्रशस्तिवाक्य भी देखने योग्य है—

परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावैं॥
हरि-पद में रति होइ, न दुःख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन को राज ईस, इत चिर करि थापै॥
श्रुति-पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होहिं तजि दुष्ट-भय।
कवि-बानी थिर रस सों रहै भारत की नित होय जय॥

जो महात्मा देश के लिये अपना सर्वस्व निछावर करने को सदा उद्यत रहे, जिसको बात बात में अपने देश का स्मरण हो आवे और जो उसके उदय के सम्बंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी से उतारे जाने पर आनंद मनावे और भाण लिखकर प्रशस्ति में "अंगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापै" तक कह डाले! इस भाण में भारतेन्दु जी अपने असली रूप में नहीं देख पड़ते।

---

*भारतेंदु-चरित्र पृष्ठ १८२-८३

उनके स्वभाव में, उनकी रुचि में, उनके देशाभिमान में, उनकी देश-हितैषिता में बहुत बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। फिर जिसका चरित्र स्वयं आदर्शरूप न हो वह चरित्र-हीनता के लिये दूसरे के दण्डित होने पर बधावे बजवावे—यह यदि विचित्र बात नहीं तो आश्चर्यजनक अवश्य है। क्या संवत् १६३३ के लगभग, जब यह भाण रचा गया, कोई घटना ऐसी हुई थी जिसके कारण उनके स्वभाव में, उनकी प्रकृति में, उनके भाव में, क्षणिक वा स्थायी परिवर्तन हो गया था? इस भाण से ऊपर जो दो छंद उद्धृत किये गए हैं उनकी श्लेषयुक्त भाषा में जो अश्लील भाव छिपे पड़े हैं वे केवल निंदनीय ही नहीं प्रत्युत कवि के रुचि-विपर्यय के स्पष्ट प्रमाण भी हैं। भारतेंदु जी इस रचना में अपने ऊँचे आसन से बहुत नीचे गिर गए हैं।

'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी' में भारतेंदु जी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है और इनके द्वारा वे पढ़नेवालों अथवा अभिनय देखनेवालों के सामने देश का एक सजीव आदर्श-पूर्ण तथा अनुकरणीय चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। ये दोनों रचनाएँ देशहितैषिता के भावों से कूट कूटकर भरी हुई हैं। पर देखना यह है कि क्या इनमें किसी प्रकार का उपदेश देने का प्रयत्न किया गया है। 'भारत-दुर्दशा' में भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का अच्छा चित्र अंकित किया गया है; पर यह दुःखांत कर दिया गया है। इससे अंत में नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है; पर होना चाहिए भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव। 'नीलदेवी'

किस उद्देश्य से लिखी गई है इसे कवि ने स्वयं प्रकट कर दिया है। वे लिखते हैं—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है। किन्तु मुझको आज उलटा और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्ष्या मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेज़ी रमणी लोग मेद-सिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज-निज पतिगण के साथ, प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों में जिस भाँति अँगरेज़ी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-

परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य जन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इस अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के करकमलों में समर्पित है।"

कैसा महत् उद्देश्य है! अब देखना यह है कि इसकी पूर्ति वे कहाँ तक कर सके हैं। पंजाब का राजा सूर्यदेव, अब्दुश्शरीफ खाँ सूर से, लड़ाई में हारकर कैद हो जाता है। उसकी रानी नीलदेवी एक नर्तकी का वेष धारण कर मुसलमान अमीर के खेमे में जाती है। वह मुसलमान सरदार नीलदेवी के रूप-लावण्य तथा नृत्य-गीत पर मोहित हो जाता है। अवसर पाकर और उसे शराब में मस्त देखकर नीलदेवी उसको मार डालती है। यही संक्षेप में इस नाटक की कथा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्य में देशहितैषिता के भाव भरे हुए हैं। पर जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दुजी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।

'अंधेर-नगरी' का वस्तु-विन्यास मध्यम कोटि का है और एक प्रचलित कहानी में किया गया है। इसमें हँसने-हँसाने की सामग्री थोड़ी है। यह छः अंकों में समाप्त किया जाता है। देश की वर्त्तमान स्थिति के चित्र इसमें स्थान-स्थान पर अंकित किए गए हैं; पर कथानक बिलकुल साधारण है। राजा की सब बातें अत्यंत अस्वाभाविक दिखाई गई हैं और अंत में बाबाजी

के धोखे में आकर वह फाँसी पर चढ़ जाता है। इस प्रहसन का दूसरा अंक ही सबसे रोचक और शिक्षा-पूर्ण है।

भारतेंदुजी के अपूर्ण नाटकों में से 'प्रेमजोगिनी' की लोगों ने बड़ी प्रशंसा की है। इसके पहले अंक के केवल चार गर्भांङ्क भारतेन्दुजी लिख सके हैं। पहले गर्भांङ्क में गोपालमन्दिर का दृश्य, दूसरे में गैबी के पास 'बहरी तरफ' का आनन्द लेनेवाली गोष्ठी का, तीसरे में मुग़लसराय स्टेशन पर दलालों और पंडों की कारवाइयों का और चौथे में काशीस्थ महाराष्ट्र ब्राह्मणों की स्थिति का चित्र अंकित किया गया है। हम नहीं कह सकते कि यह नाटक कितने अंकों तथा कितने गर्भांङ्कों में समाप्त किया जाता तथा इसका वस्तु-विन्यास किस ढङ्ग का होता। इसमें गर्भांङ्क शब्द का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। यह शब्द अँगरेजी के "सीन" शब्द का समानार्थी माना गया है, यद्यपि संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार किसी अंक के मध्य में आनेवाले अंक को गर्भांङ्क कहा है और यह आदेश किया है कि रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये इसका प्रयोग होना चाहिए। बँगला के आधुनिक नाटकों में गर्भांङ्क 'सीन' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और जान पड़ता है कि भारतेन्दुजी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। हमारी समझ में 'दृश्य' शब्द से इसका काम भलीभाँति चल सकता था। एक शास्त्रीय शब्द का दुरुपयोग वाँछनीय नहीं है। इससे व्यर्थ भ्रम उत्पन्न होता है। अस्तु; 'प्रेम-जोगिनी' के पहले अंक के चारों गर्भांङ्कों की कथा भिन्न-भिन्न है, एक दूसरे का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। यह भी समझ में नहीं

आता कि किस उद्देश्य से अथवा किस मुख्य तत्त्व के विकास के लिए इस नाटक की रचना की गई है। इसे तो नाटक न कहकर भिन्न-भिन्न दृश्यों की समष्टि कहना चाहिए। हमारे एक मित्र का कहना है कि ये गर्भाङ्क पहले "काशी के छायाचित्र' शीर्षक में छपे थे। यदि यह बात हो तो उक्त नाम ही इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है। हमारी समझ में इस 'प्रेमजोगिनी' को भारतेन्दुजी की प्रशंसनीय रचनाओं में नहीं गिना जा सकता। इसकी जो कुछ प्रशंसा है, वह संभवतः इसी लिये है कि इसमें भारतेन्दुजी की निरीक्षण-शक्ति का अच्छा विकास देखने में आता है—वर्णन प्रायः यथातथ्य है।

सारांश यह कि भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है और न युरोपीय पद्धति का। दोनों की कुछ-कुछ बातों का यथारुचि, पारसी नाटक-कंपनियों और आधुनिक बँगला नाटकों के अनुकरण पर, उपयोग किया गया है। यह उपयोग यदि किसी सिद्धाँत पर होता अथवा किसी नई पद्धति को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया जाता तो अवश्य कुछ महत्त्व का हो सकता था। पर साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में भारतेन्दुजी की कृतियों से ही हिन्दी साहित्य में दृश्य काव्यों का आरंभ होता है। ऐसी अवस्था में इनके नाटकों की सूक्ष्म विवेचना करना और उनमें वर्त्तमान काल की उन्नत जातियों के परम प्रसिद्ध नाटकों के गुण ढूँढ़ना विकास-वाद के सिद्धाँत को सर्वथा उलटने का प्रयत्न करना है। और और भाषाओं में आरंभ में दृश्य काव्यों की जो दशा रही है, उस

से कहीं अच्छे भारतेन्दुजी के नाटक हैं। हमें इन नाटकों की समीक्षा उनके निर्माण-काल पर ध्यान रखकर करनी चाहिए। जो कुछ आक्षेप या दुःख की बात है, वह यही है कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेन्दु जी ने अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध उत्पन्न करने वाली प्रकाशमाला से मोहित होकर उन्होंने उसके आगे सिर झुका दिया। भारतेन्दुजी के समय में जो और नाटक लिखे गये, वे भी इसी ढङ्ग के थे। उनके रचयिताओं ने भारतेन्दुजी को अपना आदर्श माना और उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दुजी ने हिंदी में अनेक नाटक लिखकर हिंदी-साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्त्ति का उद्योग किया और लोगों को इसका मार्ग दिखाया। उनके पीछे कुछ दिनों तक तो इस प्रकार के काव्य-साहित्य की हिंदी में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई; केवल कुछ बँगला नाटकों के हिंदी में अनुवाद हुए। पर अब यह वृक्ष पल्लवित होने लगा है। अब इसमें 'वरमाला,' 'स्कंदगुप्त,' 'अजातशत्रु,' 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि उच्च कोटि के नाटक निकलने लगे हैं। इस बीज के बोने का श्रेय भारतेन्दुजी को प्राप्त है।

नाटक में कवित्व

श्री द्विजेन्द्रलाल राय

संस्कृत के लक्षणग्रन्थों में लिखा है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। (रसमय वाक्य ही काव्य है।) रस नव हैं। उन रसों से युक्त वाक्य ही काव्य ठहरा। यह परिभाषा अत्यन्त सहज है।

ऊपर उद्धृत वचनों से यह नहीं जान पड़ता कि कोषकार, कवियों और समालोचकों ने इसका एक ही अर्थ समझा है।

यह ठीक ठीक समझाना कठिन है कि कवित्व किसे कहते है। इसका राज्य इतना विस्तृत और विचित्र है कि एक ही वाक्य में इसके सम्बन्ध में अच्छी तरह धारणा करा देना असम्भव है। मगर हाँ, विज्ञान आदि से पृथक् करके—'यह क्या है', सो न कहकर, 'यह क्या नहीं है', सो कहकर—यह विषय एक प्रकार से समझाया जा सकता है।

विज्ञान से कविता पृथक् है। विज्ञान की भित्ति बुद्धि है; कविता की भित्ति अनुभूति है। विज्ञान का जन्मस्थान मस्तिष्क

है, कविता की जन्मभूमि हृदय है। विज्ञान का राज्य 'सत्य' है, कविता का राज्य सौन्दर्य है।

कविकुलचूड़ामणि वर्ड् सवर्थ (Wordsworth) कविता के राज्य को एक ऐसा पवित्र तीर्थस्थान समझते हैं, जहाँ वैज्ञानिक का प्रवेश निषिद्ध है। उन्होंने अपनी 'कवि का स्मार्क चिन्ह' (Poets' Epitaph) नाम की कविता में वैज्ञानिकों के प्रति अवज्ञा दिखाकर कहा है—

"ऐसा कौन है जो अपनी माता की क़ब्र पर वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन करेगा ?"

कार्लाइल कहते हैं—कवि भविष्यद्वक्ता है। वैज्ञानिक लोग विज्ञान के द्वारा ब्रह्माण्ड में जो शृंखला देखते हैं, कविगण उस शृंखला का अनुभव अनुभूति के द्वारा करते हैं। उस शृंखला में एक सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य ही कवियों का वर्णनीय विषय है। वैज्ञानिकगण कहते हैं कि सन्तान के ऊपर माता का स्नेह न होता तो सन्तान जी नहीं सकता था। कारण, सन्तान दुर्बल और निःसहाय होता है—एक पिता माता के यत्न के ऊपर ही शिशु का जीवन निर्भर है। इसी कारण माता खुद न खाकर सन्तान को खिलाती है, खुद न सोकर सन्तान को सुलाती है, अपनी छाती का अमृत पिलाकर सन्तान का लालन पालन करती है, और अपने जीवन को देकर सन्तान के भविष्य का संगठन करती है। इसी नियम से संसार चलता है। नहीं तो संसार शीघ्र ही लुप्त हो जाता। परन्तु कविगण तर्क नहीं करते।

वे दिखाते हैं—माता का स्नेह कैसा सुन्दर है ! ईश्वर के राज्य में कैसी अद्भुत चमत्कारपूर्ण शृंखला है ! विज्ञान की युक्ति सुनकर हम सन्तान के प्रति माता के कर्तव्य को समझ भर लेते हैं। परन्तु कविता पढ़ कर उस वात्सल्य के ऊपर भक्ति होती है। वैज्ञानिक और कवि, इन दोनों में से जगत् का उपकार कौन अधिक करता है—यह बात यहाँ पर, इस समय, विचारणीय नहीं है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनों का लक्ष्य एक है—अर्थात् दोनों ही सृष्टि की शृंखला की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

किन्तु हर एक प्राकृतिक व्यापार काव्य का विषय नहीं होता। प्राकृतिक सत्य होने से ही वह सुन्दर नहीं हो जाता। जगत् में ऐसी अनेक चीज़ें हैं जो कुत्सित हैं। विज्ञान उन्हें चीर फाड़कर दिखा सकता है, किन्तु कवित्व उन्हें छूता भी नहीं, छोड़कर चला जाता है। इसी कारण आजतक किसी भी महाकवि ने अपने काव्य में आहार आदि शारीरिक क्रियाओं का वर्णन नहीं किया। संस्कृत के अलंकारशास्त्रों में भी उन्हें दिखाने के सम्बन्ध में पूर्ण निषेध है। कोई भी सुकुमार कला कुत्सितता दिखाने नहीं बैठती। जो मधुर है, जो सुन्दर है, और जो हृदय में सुखकर अनुभूति का संचार करता है अथ च हमारी पाशव प्रवृत्तियों को उत्तेजित नहीं करता, उसी का वर्णन करना सुकुमार कलाओं का एक उद्देश्य है।

यहाँ कविता को अन्यान्य सुकुमारकलाओं से अलग करना होगा। साधारणतः सुकुमार कलायें पाँच हैं—स्थापत्य (थवईगीरी)

भास्कर्य (खुदाई और नक्काशी का काम), चित्रकला, संगीत और कविता (भास्कर पत्थर की मूर्ति द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुकरण करता है। चित्रकार रंग के द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुकरण करता है। परन्तु स्थपतिज्ञ और संगीतज्ञ प्रकृतिका अनुकरण नहीं करते—वे नूतन सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। स्थपति यह काम मिट्टी और पत्थर में, और गवैया संगीत और स्वर में करता है। और कवि, मनोहर छन्दों में प्रकृति का अनुकरण भी करता है, और नवीन सौन्दर्य की सृष्टि भी करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि नाटक में कवित्व रहना चाहिए। किन्तु कोरा कवित्व रहने से ही कोई काव्य नाटक नहीं बन जाता। नाटकमें और भी अनेक गुण रहने आवश्यक हैं। कवित्व का राज्य सौन्दर्य है। नाटक का राज्य अनन्त मानव-चरित्र है। मनुष्य चरित्र में सुन्दर और कुत्सित दोनों ही पहलू हैं। नाटक में मानव-चरित्र का कुत्सित पहलू दिखाने का भी प्रयोजन होता है। और असल बात तो यह है कि नाटक में मानव-चरित्र का कुत्सित पहलू छोड़कर केवल सुन्दर पहलू दिखाना बहुत कठिन है। शेक्सपियर ने अपने जगत्प्रसिद्ध नाटकों में समस्त मानवचरित्र को मथ डाला है। उनके किंग लियर नाटक में जैसे बंधुत्व, और पितृ-स्नेह है, वैसे ही पितृविद्वेष, क्रूरता और स्वेच्छाचारिता भी है। हैम्लेट नाटक में एक ओर भ्रातृहत्या और लालसा है, और दूसरी ओर पितृभक्ति और प्रेम है। ओथेलो नाटक में जैसे सरलता

और पातिव्रत्य है, वैसे ही प्रतिहिंसा और डाह है। जूलियस सीजर नाटक में जैसे पतिभक्ति और देशभक्ति है, वैसे ही लोभ और दण्ड है। मैकबेथ नाटक में जैसे राजभक्ति और सौजन्य है, वैसे ही राजद्रोह और कृतघ्नता है।

किन्तु नाटक में भी कुत्सित घटनाओं को इस तरह अंकित करना निषिद्ध है, जिससे वह कुत्सित घटना लोभनीय हो उठे। जर्मन कवि शीलर (Schilier) ने अपने 'डाकू' (Robbers) नामक नाटक में डकैती को मनोहर बनाकर अंकित किया है, इसीसे समालोचकों ने उसका विशेष तिरस्कार किया है।

फिर यदि कुत्सित व्यापार का वर्णन करके ही नाटक चुप रह जाय तो (उस कुत्सित व्यापार के प्रति पाठकों में विद्वेष उत्पन्न हो जाने पर भी) वह नाटक उच्च श्रेणी का नाटक नहीं रह जाता। नाटक में बीभत्स व्यापार की अवतारणा सुन्दर को और भी सुन्दर रूप से स्पष्ट करने के लिए होनी चाहिए। परन्तु जिस नाटक में सुन्दर कुछ नहीं है, उसमें तो किसी जघन्य व्यापार की अवतारणा करना अक्षम्य है। यहाँ तक कि नाटक में कुत्सित बातों की अधिकता और प्रधानता सर्वथा त्याज्य है। शेक्सपियर का ही टाइटस एण्ड्रोनिकस् (Titius Andronicus) नाटक बीभत्स व्यापार की भरमार होने के कारण अत्यंत निन्दित गिना जाता है। और इस लिए शेक्सपियर के उपासक भक्त यह स्वीकार ही नहीं करना चाहते कि वह शेक्सपीयर की रचना है।

कालिदास या भवभूति उधर गये ही नहीं। उन्होंने अपने नाटकों में कुत्सित व्यापारों की अवतारणा ही नहीं की। उन्होंने

जो कुछ वर्णन किया है उसे अपनी कल्पना से सुन्दर समझ कर किया है। अतएव अभिज्ञानशाकुन्तल और उत्तररामचरित्र, नाटक होने पर भी, काव्यकी दृष्टि से भी निर्दोष हैं। इस जगह पर शेक्सपियर के नाटकों से इन दोनों नाटकों का विशेष भेद देख पड़ेगा।

कविता का राज्य सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य बहिर्जगत् में भी है और अन्तर्जगत् में भी है। जो कवि केवल बाहर के सौन्दर्य का ही वर्णन सुन्दर रूप से करते हैं, वे कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो कविजन मनुष्य के मन के सौन्दर्य का भी सुन्दर रूपसे वर्णन करते हैं, वे बहुत बड़े कवि या महाकवि हैं। अवश्य ही बाहर के सौन्दर्य और भीतरी सौन्दर्य में एक निगूढ़ सम्बन्ध है। यह सौन्दर्य क्षणिक आनन्द को देने वाला नहीं है। बाह्य प्रकृति के माधुर्य का उपभोग तो इतर जीवजन्तु भी करते हैं। कुत्ता पूर्णचंद्र की ओर देखता है, मयूर मेघ को देख कर पूँछ फैला कर नाचता है, सर्प केतकी गंध से आकृष्ट होता है और मृग वंशीध्वनि सुनकर स्थिर हो रहता है। किन्तु मनुष्य के निकट यह बाहर का सौन्दर्य केवल क्षणिक आनन्द देने वाला ही नहीं है, उसका एक विशेष मूल्य है। बाहर का माधुर्य मनुष्य के हृदय को गठित करता है। मेरा विश्वास है कि स्नेह, दया, भक्ति, कृतज्ञता इत्यादि भावों की उत्पत्ति भी इसी बाहर के सौन्दर्य के बोध से होती है। खिले हुए फूल को देखकर स्नेह का विकास होता है, सूर्य को देख कर भक्ति का उद्रेक होता है, नील आकाश की ओर देखते-देखते

हृदय की संकीर्णता मिटती है, और मृदु संगीत के सुनने से विद्वेष का भाव दूर होता है।

तथापि बाह्य सौन्दर्य के वर्णन की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि की अधिक कवित्वशक्ति प्रकट होती है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्णनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है। यद्यपि बीच बीच में, वर्षा आदि के अवसर पर, उसका वर्ण धूसर या कृष्ण होता है—तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र और नदियां तरंगपूर्ण होने पर भी, उनका साधारण आकार एक ही तरह का रहता है। वल्कि पर्वत, वन, मैदान, पशु, मनुष्य इत्यादि का आकार बदलता ही नहीं, यह कहना भी अनुचित न होगा। किन्तु मनुष्य के हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकंपा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है, और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो सकता है। जो कवि इस परिवर्तन को दिखा सकता है, जिसने अन्तर्जगत् के इस विचित्र रहस्य को खोलकर देखा है, उसके आगे मानसिक पहेलिया आप ही स्पष्ट हो गई हैं, उसके निकट मनुष्य हृदय की गूढ़तम जटिल समस्यायें सरल और सहज हो गई हैं। उसकी इच्छा के अनुसार नई नई मोहिनी मानसी प्रतिमायें मूर्ति धारण करके पाठकों की आँखो के आगे खड़ी होती हैं। उसके इशारे से अंधकार दूर हो जाता है। उसकी जादू की लकड़ी के स्पर्श से निर्जीव सजीव हो जाता है। उसका कवित्व-राज्य दिगन्त-प्रसारित आन्दोलनपूर्ण समुद्र के समान रहस्यमय है।

इसके सिवा मनुष्य-हृदय के सौन्दर्य के आगे बाहर का सौन्दर्य कोई चीज नहीं। जैसे एक साधारण काष्ठ विक्रेता की कृतज्ञता के चित्र को देखकर आँखों में आँसू भर आते हैं, वैसे क्या किसी नारी के रूप का वर्णन पाठकों की आँखों से आनन्द के आँसू बहा सकता है? कवि को जाने दीजिए, क्या माइकल एंजिलो (Michael Angelo) की कोई मूर्ति, या राफेल (Raphael) का कोई चित्र-फलक आँखों में आँसू ला सकता है?

और एक बात है—बाह्य सौन्दर्य दिखाने का प्रकृत उपाय भास्कर्य और चित्रकला है। ल्यूनेर (Luner) का चित्र मिश्र-प्रकृति का जो सौन्दर्य एक घड़ी भर में खोलकर दिखा देता है, उसका शतांश भी एक सौ सफों में लिखे गये छंद नहीं दिखा सकते। किन्तु कविता जिस तरह अन्तर्जगत् को स्पष्ट और सजीव भाव से दिखा सकती है, अन्य कोई भी शिल्पकला उस तरह उसे चित्रित करनेमें समर्थ नहीं। चित्रकला नारी के सौन्दर्य को अवश्य दिखा सकती है, किन्तु उसके गुणों को नहीं प्रकट कर सकती। मनुष्य के अन्तर्जगत् को मथकर शेक्सपियर ने अपने अपूर्व नाटकोंकी रचना की है, इसीसे वे जगत् के आदर्श कवि हैं।

किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि इसी कारण काव्य से बहिर्जगत का बहिष्कार कर देना होगा। बल्कि कार्य या प्रवृत्ति के सौन्दर्य के बहिर्जगत् के आधार में रखने से काव्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है। शेक्सपियर ने इसी हिसाब से लियर (Lear) के मन की आँधी को बाहर की आँधी के पार्श्वभाग (back-ground) में अंकित करके एक अपूर्व चित्र की रचना की है।

शकुन्तला

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गेटे की समालोचना—यूरोप के महाकवि गेटे (ग्योथ) ने एक छन्द में शकुन्तला की समालोचना लिखी है। उन्होंने (समालोचना करने के लिए) शकुन्तला काव्य के विभाग नहीं किए। यद्यपि गेटे का समालोचनात्मक छन्द दीपक की वत्ती के समान बहुत छोटा है, तथापि दीप-शिखा के ही समान वह शकुन्तला को प्रकाशित करने का उपाय है। गेटे ने शकुन्तला के विषय में कहा है कि यदि कोई तरुण वसन्त के फूल और परिणत वसन्त के फल, कोई यदि मनुष्य-लोक और स्वर्ग दोनों को एकत्र देखना चाहे तो वह शकुन्तला देखे। उसमें पावेगा।

बहुत लोग इस कथन को कवि का आनन्दोच्छ्वास समझकर इसका विशेष आदर नहीं करते। वे साधारणतः इसका अर्थ यही समझते हैं कि गेटे के मत से शकुन्तला एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। गेटे का यह कथन आनन्द से कही गई अत्युक्ति नहीं है। वह एक रसज्ञ का प्रौढ़ विचार है।

इस विचार में विशेषता है। कवि गेटे ने विशेष भाव से ही कहा है कि शकुन्तला में एक गम्भीर परिणति का भाव है। वह परिणति फूल से फल के रूप में, मर्त्य से स्वर्ग के रूप में और स्वभाव से धर्म के रूप में परिणति है। मेघदूत में जिस प्रकार पूर्व मेघ और उत्तर मेघ हैं, पूर्व मेघ में पथिक के विचित्र सौन्दर्य में पर्यटन कर उत्तर मेघ में अलकापुरी के नित्य सौन्दर्य में पहुँचना होता है, उसी प्रकार शकुन्तला में भी पूर्व मिलन और उत्तर मिलन ये दो प्रकरण हैं। प्रथम अङ्क के उस चञ्चल सौन्दर्यमय मनुष्य-लोक के विचित्र पूर्व मिलन से स्वर्गीय तपोवन में नित्य आनन्द-मय उत्तर मिलन की यात्रा ही अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का उद्देश्य है। यह केवल किसी विशेष भाव की अवतारणा नहीं है, किसी विशेष चरित्र का विकास नहीं है। यह है—सारे काव्य को एक लोक से दूसरे लोक में ले जाना। यह है प्रेम को स्वभाव सौन्दर्य के देश से मङ्गलमय सौन्दर्य के अक्षय स्वर्गधाम में पहुँचाना।

स्वर्ग और मर्त्य का मिलन–स्वर्ग और मर्त्य का यह मिलन कालिदास ने बहुत ही सहज में कर दिखाया है। फूल को उन्होंने ऐसे स्वाभाविक ढङ्ग से फल में फलाया है, मनुष्यलोक की सीमा को उन्होंने इस तरह स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि उनके बीच में कुछ भी अन्तर किसी को देख नहीं पड़ता। प्रथम अङ्क में शकुन्तला के अनुराग में कालिदास ने मर्त्यभूमि का कुछ भी गुप्त नहीं रक्खा। मर्त्यभूमि में वासना की कितनी प्रबलता है, यह

बात शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों के व्यवहार में कवि ने स्पष्ट करके दिखा दी है। जवानी की मस्ती के हाव-भाव, लीला-चञ्चलता, भारी लज्जा के साथ प्रबल आत्मप्रकाश का संग्राम, सभी कुछ कवि ने प्रकट कर दिया है। किन्तु यह सब शकुन्तला की सरलता का ही निदर्शन है। अनुकूल अवसर पर इस भावों के आवेश को सहसा प्रकट करने के लिए शकुन्तला पहले से तैयार न थी। उसने अपने को दमन करने का—अपने को छिपाने का पहले से कोई उपाय नहीं कर रक्खा था। जो हरिणी व्याध को नहीं पहचानती उसके घायल होने में देर ही क्या लगती है? शकुन्तला कामदेव को ठीक पहचानती न थीं, इसी से उसका हृदय अरक्षित था। उसने कामदेव या दुष्यंत किसी पर अविश्वास नहीं किया। जिस वन में सदा शिकार हुआ करता है, उस वन में व्याध को अधिक छिपकर अपना काम करना पड़ता है, वैसे ही जिस समाज में स्त्री-पुरुष का सदा सहज में मिलन हुआ करता है, वहाँ कामदेव को बहुत छिपकर सावधानी से अपना काम करना पड़ता है। तपोवन में रहनेवाली हरिणी जैसे निःशङ्क रहती है, वैसे ही तपोवन की बालिका भी असावधान थी।

शकुन्तला का पराभव जैसे अनायास ही चित्रित हुआ है, वैसे, पराभव होने पर भी, शकुन्तला के चरित्र की अत्यन्त गंभीर पवित्रता, उसका स्वाभाविक अखण्ड सतीत्व भी अनायास ही व्यक्त हो गया है। यह भी शकुन्तला की सरलता का निदर्शन है। घर के भीतर जो नकली फूल सजाकर रक्खा जाता है उसकी धूल नित्य झाड़े बिना काम नहीं चलता। किन्तु वन के स्वाभाविक

फूलों की धूल झाड़ने के लिए आदमी नहीं रखना पड़ता। वह सदा खुला रहता है; उसमें धूल भी लगती है, तब भी वह कैसे सहज में अपनी सुन्दर निर्मलता बनाये रखता है! शकुन्तला के (चरित्र पर) भी धूल लग गई थी, परन्तु वह उसे खुद नहीं जान सकी। वह सीधी सादी वन की मृगी के समान, झरने की जलधारा के समान, मलिनता का संसर्ग होने पर भी निर्मल ही रही।

कालिदास ने अपनी आश्रम-पालिता नवयौवन-शोभिता शकुन्तला को संशयहीन स्वभाव के मार्ग में छोड़ दिया है। अन्त तक कहीं उन्होंने उसमें रुकावट नहीं डाली। और, दूसरी ओर उसे अप्रगल्भा, दुःखिनी, नियमचारिणी, सतीत्व धर्म का आदर्श बना दिया है। एक ओर वह वृक्ष-लता-फल-फूल आदि के समान अपने को भूली हुई स्वभाव धर्म की अनुगामिनी है, और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी-प्रकृति संयत, तपस्यापरायण और सहिष्णु, मङ्गलानुष्ठान के शासन के वशवर्तिनी है। कालिदास ने अपने विलक्षण कवित्व-कौशल से अपनी नायिका को चञ्चलता और धैर्य, स्वभाव और नियम, नदी और समुद्र के मुहाने पर खड़ा करके दिखाया है। उसके पिता ऋषि हैं, और उसकी माता अप्सरा है। ब्रह्मचर्य व्रत के भङ्ग होने के कारण उसका जन्म हुआ है, और तपोवन में वह पली है। तपोवन ऐसा स्थान है कि स्वभाव और तपस्या, सौन्दर्य और संयम वहाँ एकत्र मिले हुए हैं। वहाँ समाज के बनावटी नियम नहीं हैं, किन्तु धर्म का कठोर नियम विराजमान है। गान्धर्व विवाह भी वैसा ही एक कार्य है। उसमें

स्वभाव की उद्दण्डता है तो विवाह का सामाजिक बन्धन भी वर्तमान है। नियम और अनियम के मध्य में स्थान पाने से ही शकुन्तला नाटक को एक विशेष सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। इन्हीं दोनों के घात-प्रतिघात से शकुन्तला के सुख-दुःख मिलन-बिछोह आदि घटनायें हुई हैं। मन लगाकर देखने से ही यह समझ में आ जाता है कि महाकवि गेटे ने अपनी समालोचना में शकुन्तला के भीतर दो विसदृश भावों के समावेश की घोषणा की है।

काव्य का एक मूल 'सुर'—शकुन्तला के आरम्भ में ही जब धनुष-बाण-धारी राजा ने मृग पर बाण चलाना चाहा तब "भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः" यह निषेध की ध्वनि सुनाई पड़ी। उस समय शकुन्तला-काव्य का एक मूल 'सुर' बज उठा। यह निषेध-वाक्य आश्रम-मृग के साथ ही साथ तपस्वी-कन्या शकुन्तला को भी करुणा के आवरण से आच्छादित करता है। ऋषि कहते हैं—

महाराज इस मृग का शरीर कोमल है, आप शर-प्रहार न करें। कोमल पुष्पों पर आग नहीं छोड़ी जाती। कहाँ यह कोमल मृग और कहाँ आपका 'बाज़' ऐसा कठोर बाण!

यही बात शकुन्तला के विषय में भी कही जा सकती है। शकुन्तला के प्रति भी राजा का प्रेम-बाण चलाना दारुण कर्म है। प्रणय के मामले में जानकर; राजा पक्के और कठिन हैं। कितने कठिन हैं, इसका परिचय अन्यत्र मिलेगा। और इस आश्रम में पली हुई बालिका का अनजानपन और सरलता बड़ी ही कोमल

और दमनीय हैं। जिस प्रकार मृग के प्राणों की रक्षा के लिए कातर प्रार्थना की आवश्यकता है उसी प्रकार शकुन्तला की रक्षा के लिए भी। क्योंकि दोनों तपोवन-वासी हैं।

मृग की रक्षा के लिए की गई इस कातर प्रार्थना की प्रतिध्वनि के साथ ही साथ हम लोग वल्कल वस्त्र पहने सखियों के साथ वृक्षों को सींच रही तापस-कन्या को देखते हैं। देखते हैं कि वह अपने भाई वृक्षों और भगिनी लताओं की सेवा—जो उसका नित्यकर्म है—स्नेहपूर्वक कर रही है। केवल वल्कल के वस्त्रों से ही नहीं, किन्तु हावभाव चेष्टा आदि से भी वह वृक्ष-लताओं में से कोई एक जान पड़ती है। इसी से दुष्यन्त ने कहा है—

इसके ओठ नवीन पत्ते के समान लाल हैं। इसके बाहु कोमल टहनियों का अनुकरण करने वाले हैं। और, इसके शरीर में चढ़ता हुआ यौवन कुसुम के समान मनोहर है।

नाटक के प्रारम्भ ही में शान्ति-सौन्दर्य-युक्त एक सम्पूर्ण जीवन, एकान्तवासी पुष्प-पल्लवों के बीच में, नित्य के आश्रमधर्म, अतिथि-सेवा, सखी-स्नेह और विश्व-वात्सल्य लेकर हमको सामने दिखाई दिया। यह ऐसा अखण्ड और आनन्दमय है कि हमें यह आशङ्का होती है कि कहीं धक्का लगने से टूट न जाय। उस समय राजा दुष्यन्त को दोनों हाथ उठाकर रोकते हुए पुकारकर यही कहने की इच्छा होती है कि "बाण न मारना, बाण न मारना! इस परिपूर्ण सौन्दर्य को न तोड़ना!"

जब देखते ही देखते दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय घनिष्ठ

हो उठता है, तब प्रथम अंक के अन्त में नेपथ्य से यह आर्त्त शब्द सुनाई पड़ता है कि "हे तपस्वियो ! आप लोग तपोवन के प्राणियों की रक्षा के लिए सावधान हो जायँ, क्योंकि शिकारी राजा दुष्यन्त पास आगये"।

यह सारे तपोवन की भूमि का क्रन्दन है और उन तपोवन के प्राणियों में शकुन्तला भी एक है ! परन्तु उसकी रक्षा कोई न कर सका।

तपोवन से प्रस्थान—शकुन्तला जब तपोवन से जाती है तब महर्षि कण्व वृक्षों को सम्बोधन करके कहते हैं—

हे समीपवर्ती तपोवन के वृक्षो,

तुम लोगों को बिना जल दिये जो स्वयं जल पीने की इच्छा भी नहीं करती थी, जो पुष्पाभरण पहनना पसन्द करने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे पत्ते नहीं तोड़ती थी, तुम लोगों के जिस समय पहले पुष्प निकलता था उस समय जो खूब उत्सव करती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जाती है । तुम सब लोग इसे जाने की आज्ञा दो।

चेतन अचेतन सभी के साथ ऐसी अन्तरङ्ग आत्मीयता, प्रीति और कल्याण का ऐसा बन्धन अन्यत्र दुर्लभ है।

शकुन्तला ने कहा—"सखि, प्रियंवदे, आर्यपुत्र (पति) को देखने के लिए मेरा हृदय व्याकुल है, तो भी इस आश्रम को छोड़कर जाने के लिए जैसे मेरे पैर नहीं उठते"। प्रियंवदा ने कहा—"केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से व्याकुल नहीं हो

रही हो, तुम्हारे होने वाले वियोग की आशङ्का से तपोवन की भी यही दशा है—

मृगियों के मुँह से चबाया हुआ तृण नीचे गिर रहा है। मोरों ने नाचना छोड़ दिया, पुराने पत्तों के गिरने के व्याज से लताएँ आँसू गिरा रही हैं।

शकुन्तला ने कण्व से कहा—"पिताजी, कुटी के पास चरने वाली गर्भ के कारण मन्दगति से चल रही यह मृगी जब निर्विघ्न पुत्र उत्पन्न करे, तब यह प्रिय संवाद सुनाने के लिए मेरे पास आप कोई आदमी अवश्य भेजिएगा"।

कण्व ने कहा—"मैं कभी न भूलूँगा।"

इसी समय पीछे से बाधा पाकर शकुन्तला बोली—"यह कौन पीछे की ओर से मेरा कपड़ा खींच रहा है"। कण्व ने उत्तर दिया, बेटी—

कुश के काँटों से जिसका मुख घायल हो जाता था तो तुम उसमें घाव भरनेवाला इंगुदी का तेल लगाकर अच्छा करती थीं, और तुमने साँवे की बालें खिलाकर जिसका पालन किया है वह पुत्र के समान पालित मृग तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ता।

शकुन्तला ने मृग से कहा—"अरे बेटा, मैं तो तुम सहवासियों को छोड़ कर जा रही हूँ, अब तू मेरा पीछा क्यों करता है! तेरे उत्पन्न होने के बाद ही तेरी माँ मर गई थी, तब से पाल-पोस करके मैंने ही तुझे इतना बड़ा किया है। अब मैं जाती हूं। पिताजी तेरी देख-रेख करेंगे। तू लौट जा।"

इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि से बिदा

होकर रोती हुई शकुन्तला ने तपोवन से प्रस्थान किया। लता के साथ फूल का जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही स्वाभाविक सम्बन्ध शकुन्तला का तपोवन के साथ है।

शकुन्तला-नाटक में अनसूया, प्रियंवदा, कण्व और दुष्यन्त आदि जैसे एक एक पात्र हैं वैसे ही तपोवन भी एक विशेष पात्र है। इस गूँगी प्रकृति को किसी नाटक के भीतर ऐसा प्रधान, ऐसा अत्यन्त आवश्यक स्थान दिया जा सकता है, यह बात शायद संस्कृत-साहित्य के सिवा अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकती। प्रकृति को मनुष्य बनाकर, उसके मुख से बातचीत कराकर "रूपक" नाट्य की रचना की जा सकती है, किन्तु प्रकृति को असली रूप में रखकर उसे ऐसा सजीव, प्रत्यक्ष व्यापक और अन्तरङ्ग बना लेना तथा उसके द्वारा नाटक का इतना काम करा लेना, शाकुन्तल के सिवा और कहीं नहीं देखा जाता। जहाँ बाह्य प्रकृति को दूर रखते हैं; उसे गैर समझते हैं, जहाँ मनुष्य अपने चारों ओर दीवार उठाकर संसार में सर्वत्र केवल 'अन्तर' की रचना किया करते हैं, वहाँ के साहित्य में इस प्रकार की सृष्टि सर्वथा असम्भव ही है।

"उत्तर-चरित" में भी इसी प्रकार प्रकृति के साथ मनुष्य की मैत्री व्यक्त की गई है। सीता राजभवन में रहकर भी हृदय से उसी वन के लिए व्याकुल होती है। वहाँ तमसा नदी और वसन्त की वन-शोभा ही उनकी प्रियसखी हैं। मोर और हाथी के बच्चे ही उनके कृतक-पुत्र हैं। वृक्ष लता आदि उनके परिजन हैं।

राजा का चंचल प्रणय—पाँचवें अङ्क में राजा ने शकुन्तला को अस्वीकार किया है। उस अङ्क के प्रारम्भ में ही कवि ने राजा के प्रणय की रङ्गभूमि का पर्दा, दम भर के लिए, ज़रा उठा कर उसका दृश्य लोगों को दिखाया है। राजा की प्रियतमा हंसपदिका, नेपथ्य में, संगीतशाला में बैठी हुई, आप ही आप गा रही है—

हे नवरस के लोभी मधुकर, आम्रमञ्जरी को चूम कर कमल-वन में रहने के आनन्द को कैसे भूल गये हो?

राजा के अन्तःपुर से आया हुआ यह व्यथित हृदय का आँसुओं से तर गीत रसिकों के हृदय में बड़ी चोट पहुँचाता है। विशेष चोट पहुँचने का कारण यह है कि इससे पहले ही शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रणय की लीला हमारे हृदय पर अधिकार कर चुकी है। उसके पहले के अङ्क में ही शकुन्तला वृद्ध महर्षि कण्व के आशीर्वाद तथा उस तपोवन के मङ्गलाचरण को ग्रहण कर बड़े ही स्निग्ध-करुण, बड़े ही पवित्र-मधुर भाव से पति के घर जाने के लिए यात्रा कर चुकी है। उसके लिए हमारे आशापटल में जिस प्रेम का—जिस गृहसुख का चित्र अंकित हो उठता है वह चित्र अगले अंक के आरम्भ में ही विकृत हो जाता है।

विदूषक ने जब राजा से पूछा—"आपने इस गान का क्या अर्थ समझा?" तब राजा ने मुसकरा कर उत्तर दिया, एक ही बार प्रणय करके इसे मैंने छोड़ दिया है। इसी से, देवी वसुमती से प्रेम करने के कारण, मैं इस भारी भर्त्सना के योग्य ही हूँ। मित्र माधव्य, तुम जाकर मेरी ओर से हंसपदिका से कहो कि बड़ी

चतुरता से तुमने मेरी भर्त्सना की है। ...जाओ, बड़ी होशियारी के साथ उससे यह बात कहना।

पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में राजा के चञ्चल प्रणय का यह परिचय निरर्थक नहीं है। इसके द्वारा कवि ने बतला दिया है कि दुर्वासा के शाप के द्वारा जो घटना हुई है उसका बीज राजा के स्वभाव में था। काव्य का सौन्दर्य नष्ट न होने के लिए जो बात 'दैवी घटना' के रूप में दिखाई गई है वह स्वाभाविक ही थी।

क्रूर काण्ड की भूमिका—चतुर्थ अङ्क से पाँचवें अङ्क में हम एक दूसरी ही हवा में आ पड़े। अब तक हम जैसे एक मानस-लोक में थे। वहाँ का जो नियम था वह नियम यहाँ का नहीं है। उस तपोवन का और यहाँ का 'सुर' कैसे मिल सकता है? वहाँ जो बात सहज-सुन्दर भाव से अनायास ही हो गई थी उसकी क्या दशा होगी—यह सोचते ही खटका पैदा हो जाता है। पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में ही होशियारी या नागरिक वृत्ति में जब देखा कि यहाँ का हृदय बड़ा कठिन है, प्रणय बड़ा कुटिल है, और मिलन का मार्ग सहज नहीं है, तब हमारा वह तपोवन का सौन्दर्य-स्वप्न उचट गया! ऋषि के शिष्य शार्ङ्गरव ने राजभवन में प्रवेश करते ही कहा—"मालूम होता है, आग से घिरे हुए घर में जैसे हम लोग आगये हों"। शारद्वत ने कहा—"नहाये हुए मनुष्य को तेल लगाये हुए मनुष्य के देखने से, शुद्ध मनुष्य को अशुद्ध मनुष्य के देखने से, जागते मनुष्य को सोये हुए मनुष्य के देखने से तथा स्वतन्त्र

मनुष्य को किसी बन्दी मनुष्य के देखने से जैसा मालूम पड़ता है, यहाँ के विषयी मनुष्यों के देखने से मुझे भी वैसा ही मालूम पड़ता है"। ऋषिकुमार इस बात का अनायास ही अनुभव कर सके कि वे किसी एक दूसरे ही लोक में आ गये हैं। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में इसी तरह अनेक प्रकार के आभासों के द्वारा कवि ने हम लोगों को इसके लिए तैयार कर रक्खा कि शकुन्तला-प्रत्याख्यान की निष्ठुर घटना से विशेष आघात न लगे। हंस पदिका के सरल करुण-गीत को इस क्रूर काण्ड की भूमिका समझना चाहिए।

शकुन्तला-प्रत्याख्यान—तदनन्तर जब दुष्यन्त-कृत प्रत्याख्यान शकुन्तला के सिर पर वज्र की तरह अचानक आ पड़ा तब वह तपोवन की कन्या विश्वासी पुरुष के हाथ से बाण की चोट खाई हुई मृगी के समान विस्मय, भय और वेदना से व्याकुल दृष्टि से राजा की ओर देखती रह गई। तपोवन में पुष्पराशि के ऊपर अग्नि की वर्षा हुई। शकुन्तला को भीतर बाहर, छाया और सौन्दर्य से आवृत करके जो एक तपोवन लक्ष-अलक्ष में विराजमान था वह आज इस वज्रपात से चूर चूर होकर शकुन्तला के चारों ओर से चिर दिन के लिए अलग होगया। शकुन्तला एक-दम निराश्रय हो गई। कहां हैं पिता कण्व, कहाँ हैं माता गौतमी, कहाँ हैं प्रियंवदा और अनसूया सखी, कहाँ है वह तरु-लता-पशु-पक्षियों के साथ स्नेह का सम्बन्ध, माधुर्यमय मेल। कहाँ है वह सुन्दर शान्ति और निर्मल जीवन। इस घड़ी भर की भारी चोट से

शकुन्तला की बहुत कुछ हानि होगई। यह देखकर हम सन्नाटे में आ जाते हैं। नाटक के पहले चार अङ्कों में जो संगीत की ध्वनि उठी थी वह दम भर में बन्द होगई।

उसके बाद शकुन्ता के चारों ओर कैसा गहरा सन्नाटा—कैसी विरलता है! जो शकुन्तला अपने कोमल हृदय के प्रभाव से अपने चारों ओर की चीज़ों को अपना बना रखती थी आज वही अकेली असहाय है! अपनी उस भारी शून्यता को शकुन्तला अपने एक-मात्र महान दुःख से परिपूर्ण किये हुए विराजती है। कालिदास शकुन्तला को फिर कण्व के आश्रम को लौटा नहीं ले गये, इस से उनकी असाधारण कवित्वशक्ति का ही परिचय प्राप्त होता है। अपनी पूर्व परिचित वनभूमि के साथ शकुन्तला का पहले का ऐसा मिलन अब सम्भव नहीं। क्योंकि कण्व के आश्रम से यात्रा करते समय तपोवन से शकुन्तला का केवल बाहरी वियोग हुआ था। आज दुष्यन्त के प्रत्याख्यान से वह वियोग सम्पूर्ण हो गया। अब वह शकुन्तला नहीं रही। अब संसार के साथ उसका संबंध बदल गया है। इस समय शकुन्तला को उसके पुराने सम्बन्ध के बीच स्थापित करने से उत्कट निष्ठुर असामञ्जस्य ही प्रकाशित होता। इस समय इस दुखिया के लिए उसके महान् दुःख के योग्य एकान्त स्थान की ही आवश्यकता थी। सखि-रहित नवीन तपोवन में कालिदास ने शकुन्तला के विरह-दुःख की प्रत्यक्ष अवतारणा नहीं की। कवि ने चुप रहकर शकुन्तला के चारों ओर की नीरवता और शून्यता हमारे हृदय में और भी घनी कर दी है। वह यदि शकुन्तला को कण्व के आश्रम

में लौटा ले जाकर इस तरह चुप भी रहते तो वह आश्रम बोलता। वहां के वृक्षों और लताओं का क्रन्दन और सखियों का विलाप आप ही आप हमारे हृदय में ध्वनित होता रहता। किन्तु इस अपरिचित नवीन तपोवन में हमें सब स्तब्ध नीरव देख पड़ता है। वहाँ विश्व से बिछुड़ी हुई शकुन्तला का नियम से संयत और धैर्य से गम्भीर दुःख ही केवल हमारी मानस-दृष्टि के सामने ध्यान लगाये विराजमान है। इस ध्यानमग्न दुःख के सामने कवि अकेले खड़े हुए अपने ओठों पर उँगली रक्खे हैं और उन्होंने उस निषेध के इशारे से सारे प्रश्नों को चुप और सारे विश्व को वहाँ से दूर हटा रक्खा है।

दुष्यन्त की तपस्या—इस समय दुष्यन्त पश्चात्ताप से जल रहे हैं। यह पश्चात्ताप ही उनकी तपस्या है। इस पश्चात्ताप के द्वारा शकुन्तला की प्राप्ति न होती तो शकुन्तला के पाने का कुछ गौरव ही न होता। अनायास हाथ लग जाना 'पाना' नहीं कहलाना। किसी वस्तु का लाभ ऐसी सहज बात नहीं है। जवानी की मस्ती की अचानक आने वाली आँधी में शकुन्तला को दम भर में उड़ा ले जाने से सम्पूर्ण भाव से उसकी प्राप्ति न होती। किसी चीज़ को प्राप्त करने का उत्तम ढङ्ग है साधना और तपस्या। जो बिना परिश्रम के हाथ लगी थी वह अनायास ही हाथ से निकल भी गई। जो चीज़ जोश की मुट्ठी से लाई जाती है वह शिथिल भाव से ही गिर पड़ती है। इसी कारण कवि ने परस्पर को यथार्थ भाव से—चिरन्तन भाव से प्राप्त करने के लिए

दुष्यन्त और शकुन्तला को दीर्घ दुस्सह तपस्या करने में प्रवृत्त किया। राजसभा में उपस्थित होते ही यदि दुष्यन्त शकुन्तला को ग्रहण कर लेते तो वह भी हंसपदिका के दल में शामिल होकर दुष्यन्त के अन्तःपुर के एक कोने में स्थान पाती। बहुत स्त्रियों के स्वामी राजा की ऐसी कितनी ही "अनायास-प्राप्त" औरतें थीं जो क्षणभर के सौभाग्य की स्मृतिमात्र अपने हृदय में लिये अनादर के अन्धकार में अनावश्यक जीवन बिता रही थीं। और समय पर राजा उनके बारे में कहते थे कि "सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः।"

शकुन्तला का यह सौभाग्य ही था कि दुष्यन्त ने निष्ठुर कठोरता के साथ उसको अस्वीकार किया। अपने ऊपर अपनी उस निठुराई की पलटकर आई हुई चोट ने ही दुष्यन्त को शकुन्तला के बारे में अचेत नहीं रहने दिया—वह शकुन्तला को भूल नहीं सके। दिनोंदिन भारी वेदना की गर्मी में पिघला हुआ राजा का हृदय शकुन्तलामय होने लगा। शकुन्तला में राजा का अन्तर्बाह्य ज्ञान ओतप्रोत सा हो गया। राजा को अपने जीवन में ऐसी अभिज्ञता कभी नहीं प्राप्त हुई थी। पहले उनको यथार्थ प्रेम का उपाय और अवसर नहीं मिला था। राजा होने के कारण वह इस मामले में अभागे ही थे, उनकी इच्छा अनायास ही पूर्ण हो जाने के कारण उनको अभी तक साधना का धन प्राप्त नहीं हुआ था। अब की विधाता ने कठिन दुःख में डाल-कर उन्हें यथार्थ प्रेम का अधिकारी बना दिया। आज से राजा की नागरिक वृत्ति एक-दम बन्द हो गई।

आन्तरिक मिलन—इस प्रकार कालिदास ने पाप को हृदय की ओर से अपनी आग में आप जलाया है। उसे बाहर से राख में दबाकर नहीं रक्खा। अन्त में सारे अमङ्गलों का अग्निसत्कार करके नाटक समाप्त हुआ है। शकुन्तला के पाठकों का हृदय एक संशयहीन परिपूर्ण परिणति के भीतर शान्ति प्राप्त करता है। बाहर से अकस्मात् बीज आपड़ने से जो विषवृक्ष उपजता है वह तब तक उखाड़ा नहीं जा सकता जब तक भीतर से गहरी खुदाई करके उसकी जड़ निकाल न डाली जाय। कालिदास ने दुष्यन्त-शकुंतला के बाह्य मिलन को दुःख से खोदे मार्ग में लेजाकर आन्तरिक मिलन में सार्थक बना दिया है। इसी से कवि गेटे ने कहा है कि "तरुण वसन्त का फूल और परिणत वसन्त का फल, मनुष्य-लोक और स्वर्ग, दोनों को यदि कोई एक जगह देखना चाहे तो उन्हें वह शकुन्तला में पावेगा।"

चिरस्थायी स्वर्ग—नाटक के आरम्भ में हमने शकुन्तला को एक निर्मल सौन्दर्य के लोक में देखा था। वहाँ वह अपनी सखियों और वृक्ष-लता-मृगों के साथ मिली हुई सरल आनन्द से रहती थी। उस स्वर्ग में अलक्ष्यरूप से अपराध ने प्रवेश किया। उस स्वर्ग का सौन्दर्य कीड़े लगे फूल के समान विदीर्ण और शिथिल होकर गिर गया। तदनन्तर लज्जा, वियोग, संशय, दुःख और पश्चात्ताप देख पड़ता है। फिर अन्त में अत्यन्त विशुद्ध और अत्यन्त उन्नत स्वर्ग-लोक में क्षमा, प्रीति और शान्ति के दर्शन

होते हैं। इसी कारण शकुन्तला को पैराडाइज़लास्ट (Paradise lost) और पैराडाइज़ रीगेंड (Paradise Regained) कह सकते हैं।

शकुन्तला का प्रथम स्वर्ग बहुत ही कोमल और अरक्षित है। वह सुन्दर और सम्पूर्ण है, किन्तु कमलपत्र के जलविन्दु के समान शीघ्र ही गिर जानेवाला है। ऐसी संकीर्ण सम्पूर्णता की सुकुमारता से छुटकारा पाना ही अच्छा है। वह न तो चिरस्थायी है और न उससे हमारी सर्वाङ्गीन तृप्ति ही होती है। अपराध ने मस्त हाथी की तरह आकर पद्मपत्र का घेरा तोड़ डाला—आन्दोलन के क्षोभ ने सारे हृदय को मथ डाला। सहज का स्वर्ग इस तरह सहज ही में नष्ट हो गया। अब बाक़ी रहा साधना का स्वर्ग। पश्चात्ताप के द्वारा, तपस्या के द्वारा, जब वह स्वर्ग हाथ में आया तब फिर कोई शङ्का नहीं रही। यही स्वर्ग चिरस्थायी है।

मनुष्य का जीवन ऐसा ही है। बच्चा जिस सरल स्वर्ग में रहता है वह सुन्दर है, वह सम्पूर्ण है, किन्तु क्षुद्र है। जीवन के पूर्ण विकास के लिए बिचली अवस्था के विघ्न-क्षोभ, अपराध के आघात और पश्चात्ताप की जलन अत्यन्त आवश्यक है। बाल्यकाल की शान्ति से निकल कर संसार के विरोध-विप्लव में पड़े बिना प्रौढ़ावस्था में परिपूर्ण शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। प्रातःकाल की कोमलता को मध्याह्न के ताप में जलाकर ही सायङ्काल का लोकलोकान्तरव्यापी विश्राम होता है। पाप और अपराध क्षणभंगुर को तोड़ डालते हैं, तथा पश्चात्ताप और कष्ट

चिरस्थायी की सृष्टि करते हैं। शकुन्तला में कवि ने यही स्वर्ग से गिरने से लेकर स्वर्ग-प्राप्ति तक सब दिखा दिया है।

अद्भुत संयम—संसार की 'प्रकृति' बाहर शान्त और सुन्दर है, किन्तु उसकी प्रचण्ड शक्ति भीतर ही भीतर नित्य काम करती रहती है। शाकुन्तल नाटक में भी हम इसी का प्रतिरूप देख पाते हैं। ऐसा अद्भुत संयम और किसी भी नाटक में हमको नहीं देख पड़ता। स्वाभाविक प्रवृत्ति की प्रबलता दिखाने का अवसर पाते ही यूरोप के कवि जैसे आपे से बाहर हो जाते हैं। प्रवृत्ति कहाँ तक जा सकती है, इस बात को अतिशयोक्ति के द्वारा दिखलाना यूरोप के कवियों को बहुत अच्छा मालूम होता है। शेक्सपियर के रोमियो-जुलियट आदि नाटकों में इस बात के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। शकुन्तला के समान प्रशान्त और गम्भीर, संयत और सम्पूर्ण नाटक शेक्सपियर के नाटकों में एक भी नहीं है। दुष्यन्त और शकुन्तला में जो प्रेम-सम्भाषण हुआ है, वह अत्यन्त संक्षेप में है। उसका अधिक अंश आभास और इङ्गित के द्वारा व्यक्त हुआ है। कालिदास ने कहीं भी रास ढीली नहीं की। दूसरे कवि जहाँ क़लम दौड़ाने का मौका ढूँढ़ते हैं वहीं कालिदास ने उसको एकाएक रोक लिया है। तपोवन से राजधानी में लौट कर दुष्यन्त शकुन्तला की कुछ भी खोज खबर नहीं लेते। इसके लिये विलाप-सन्ताप का वर्णन खूब किया जा सकता था। परन्तु कालिदास ने यहाँ पर शकुन्तला के मुख से एक बात भी नहीं कहलाई, केवल दुर्वासा के आतिथ्य-सत्कार में असावधानी

पर लक्ष्य करके हम उस बेचारी की अवस्था की यथासम्भव कल्पना कर ले सकते हैं। विदा के समय शकुन्तला के प्रति कण्व का परम स्नेह कैसे सकरुण गाम्भीर्य और संयम के साथ कितने थोड़े शब्दों में व्यक्त किया गया है। अनसूया और प्रियंवदा का सखी के वियोग का कष्ट क्षण क्षण भर में, एक दो बातों में, जैसे 'बाँध' को नाँघ जाने की चेष्टा करके उसी समय भीतर ही भीतर रुक जाता है। शकुन्तला के प्रत्याख्यानवाले दृश्य में भय, लज्जा, अभिमान, प्रार्थना, तिरस्कार, विलाप आदि सब है—पर बहुत ही थोड़े में। यह किसने सोचा था कि जिस शकुन्तला ने सुख के समय सरल निःसंशय भाव से अपने को अर्पण कर दिया था वह दुःख के समय—दारुण अपमान के समय—अपने हृदय की वृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा को ऐसे अद्भुत संयम से सुरक्षित रक्खेगी। इस प्रत्याख्यान के उपरान्त की चुप्पी कैसी व्यापक और कैसी गम्भीर है। कण्व चुप हैं, अनसूया प्रियंवदा चुप हैं, मालिनी नदी के तट तपोवन चुप है, और सबसे अधिक चुप है शकुन्तला। हृदय की वृत्तियों को आन्दोलित करने का, हृदय को हिला देने का ऐसा अवसर क्या किसी अन्य नाटक में भी चुपचाप छोड़ दिया गया है ? दुष्यन्त के अपराध को दुर्वासा के शाप से छिपा रखना भी कवि का संयम है। दुष्ट प्रवृत्ति की उद्दण्डता को स्पष्टरूप से—उच्छृङ्खल भाव से दिखलाने के लोभ को भी कवि ने रोक लिया है। उनकी काव्यलक्ष्मी ने उन्हें मना करते हुए कहा है—

नहीं नहीं, इस मृगा के कोमल शरीर पर, पुष्पराशि पर अग्नि के समान वर्षा-बाण मत छोड़ो।

दुष्यन्त ने जब भारी क्षोभ का कारण लेकर मत्तभाव से काव्य में प्रवेश किया तब कवि के हृदय से यों ध्वनि निकली—

तपस्या के लिए साक्षात् विघ्न के समान यह गजराज धर्मारण्य में प्रवेश करता है। इस गजराज के प्रवेश करने से काव्य की शान्ति नष्ट हो जाने का खटका था इसी से कालिदास ने धर्मारण्य के—काव्यकानन के इस साक्षात् विघ्न को शाप की ज़ंजीर से बाँध दिया और उसे कमलवन में कीचड़ उछालने नहीं दी।

काव्य का शासन—यदि कोई यूरोप का कवि होता तो यहाँ सत्य का अनुकरण करता। संसार में जैसी घटनायें होती हैं काव्य में भी वह उन्हीं का संघटन करता। शाप या किसी अलौकिक घटना से कुछ भी न छिपाता। जैसे उनके ऊपर संसार का ही अधिकार है, काव्य का कुछ भी दावा नहीं है। किंतु कालिदास ने संसार को काव्य से अधिक महत्त्व नहीं दिया। कालिदास ने इस बात का पट्टा किसी को नहीं लिख दिया था कि रास्ते-गली में जो कुछ होता रहता है उसी की नकल वह भी करेंगे। किन्तु काव्य का शासन कवि को मानना ही पड़ता है। काव्य की प्रत्येक घटना काव्य से मेल खा जाय—इस पर कवि को विशेष लक्ष्य रखना पड़ता है। कालिदास ने सत्य के भीतरी रूप को ज्यों का त्यों रखकर उसके बाहरी रूप को काव्य के सौन्दर्य के साथ मिला लिया है। उन्होंने पश्चात्ताप और तपस्या को उज्ज्वल

करके दिखलाया है, किन्तु पाप को एक पर्दे में थोड़ा छिपा दिया है। शकुन्तला-नाटक प्रारम्भ से अन्त तक शान्ति, सौन्दर्य और संयम के द्वारा घिरा हुआ है। ऐसा न करने से वह उलट पुलट जाता, उसकी शोभा जाती रहती। वह संसार की ठीक नकल होता। किन्तु काव्यलक्ष्मी को कठोर आघात पहुंचता। कवि कालिदास की करुणा-निपुण लेखनी के द्वारा ऐसा होना कभी सम्भव न था।

कालिदास ने इसी प्रकार बाहरी शान्ति और सौन्दर्य को कहीं पर अत्यन्त क्षुब्ध न करके अपने काव्य की आन्तरिक शक्ति को निस्तब्धता में सदा कार्यनिरत और सबल बना रक्खा है। यहाँ तक कि उनके तपोवन की बाह्य प्रकृति ने भी सब जगह आन्तरिक कार्यों की ही सहायता की है। कभी तो उस बाह्य प्रकृति ने शकुन्तला की यौवन-लीला को अपनी लीला-माधुरी अर्पण कर दी है, कभी मङ्गल-आशीर्वाद में अपनी मङ्गलमय मर्मध्वनि मिला दी है, कभी विदा के समय की व्याकुलता में अपने मूकसंभाषण-द्वारा करुणा मिला दी है। उसने सुन्दर मन्त्रबल से शकुन्तला के चरित्र में एक पवित्र निर्मलता, एक प्रकार के स्निग्ध-माधुर्य की किरणें डाल रखी हैं। इस शकुन्तला काव्य में यथेष्ट निस्तब्धता है। किन्तु सब की अपेक्षा निस्तब्ध किन्तु व्यापक भाव से कवि के तपोवन ने इस काव्य में काम किया है। वह सौन्दर्य का काम है, प्रेम का काम है, आत्मीयता का काम है, हृदय का गूढ़ काम है।

द्विजेंद्रलाल राय की नाटक रचना

श्री रूपनारयण पाण्डेय

रचना-पद्धति

द्विजेंद्र बाबू को जो नाटक या प्रहसन लिखना होता था, उसका पहले अपनी कल्पना के अनुरूप एक संक्षिप्त सार (Syn opsis) लिख कर तैयार कर लेते थे । उसमें पांचों अंकों के दृश्य और हर एक दृश्य के हरएक पात्र का नाम लिख रखते थे। इस तरह पुस्तक लिखने के पहले आदि से अंत तक संपूर्ण पुस्तक का एक ढाँचा तैयार कर लिया करते थे। यहाँ पर यह कह देना भी जरूरी है कि लिखने के समय बहुधा वह संक्षिप्तसार उलट-पुलट जाता था। शायद पुस्तक लिखने के पहले एक 'आइडिया' ठीक कर लेने के लिये वह इस ढंग को अख्तियार करते थे। कुछ भी हो, संक्षिप्त सार लिख चुकने के बाद ही वह पुस्तक लिखना शुरू करते थे। लेकिन उनके लिखने की पद्धति भी एक निराले ढंग की थी । वह नियमित रूप से ग्रंथ को आदि से अंत तक नहीं लिखते थे । अपने मन की अवस्था और इच्छा के अनुसार विना कुछ विचार किए जब जिस

दृश्य के लिखने को जी चाहता था, तब उसे लिख डालते थे। इस तरह एक-एक करके सब दृश्य लिखे जा चुकने पर वह उस पुस्तक को कुछ दिन तक डाल रखते थे। उसके बाद पहले अकेले में आप उस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाते थे। उस समय उसमें परिवर्धन, परिवर्तन, परिवर्जन आदि शुरू होता था। इस तरह कुछ दिन काटकूट करके जब वह पसन्द आजाती थी तब प्रेस में भेजने के पहले उस पुस्तक को एक बार, और कभी बार-बार, अपने साहित्य-सेवी मित्रों को पढ़कर सुनाते थे। उस समय उनमें से हर एक के अभिमत, परामर्श और उपदेश को सुनते थे। अक्सर इस विषय में घोर तर्क-वितर्क और वाद-विवाद हुआ करता था। यह कठोर अग्नि-परीक्षा समाप्त होने का कोई निश्चय नहीं था। कभी-कभी यह वादानुवाद तर्क-वितर्क और विरोध एक महीने, दो महीने, तीन महीने तक चलता रहता था। द्विजेन्द्र बाबू इस तरह बन्धुओं के साथ बहस करके उनकी सम्मति एकत्र करते थे, और फिर खुद भी श्रद्धापूर्वक धीर भाव से उस बारे में खूब मन लगा कर सोचते-विचारते थे। ज़रूरत होने पर सबके सामने अपने भ्रम को स्वीकार कर लेते थे। ग्रन्थ के उस अंश को बदल देते थे, या फिर लिखते थे, अथवा बिलकुल ही निकाल देते थे। इतने बड़े प्रसिद्ध और लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक होने पर भी, अपने लेख या कल्पना के किसी दोष या भ्रम को केवल स्वीकार ही नहीं, सबके आगे स्पष्ट रूप से कहने में भी उन्हें कोई लज्जा संकोच या दुविधा नहीं थी। छोटे-बड़े माननीय नगण्य हर तरह के बन्धु के मतामत

को वह अत्यन्त आग्रह और श्रद्धा के साथ सुनते थे। उनके आगे छोटा-बड़ा नीच-उच्च सभी समान थे।

इस तरह परीक्षा में पास होने पर पुस्तक प्रेस में छपने को भेजी जाती थी। परन्तु इतने पर भी उसका छुटकारा नहीं था। वह कहते थे—"छापे के स्वच्छ अक्षरों में पुस्तक के दोष-गुण जितने स्पष्ट देख पड़ते हैं उतने लिखे हुए कटे पिटे गिचपिच अक्षरों में नहीं।" नतीजा यह होता था कि प्रूफ आने पर उनमें वह इतनी काटपीट और रद्दोबदल करते थे कि केवल इसी के लिये उनकी निश्चित छपाई के अलावा फी फ़ार्म एक रुपया और देना पड़ता था। कभी-कभी प्रूफ़ देखते-देखते वह किसी-किसी दृश्य को एकदम काट डालते थे। अगर यह कहा जाय कि वह उसे बिलकुल नए सिरे से लिखते थे, तो भी कुछ झूठ न होगा।

अगर कोई मित्र कभी कह उठता था कि आप एक Genius (प्रतिभाशाली) हैं; आपकी रचना के साथ हमारी रचना की तुलना कैसे हो सकती है?, तो वह चट कह उठते थे कि "इन सब व्यर्थ बातों को मैं नहीं मानता। इँगलैंड के एक मनीषी विद्वान् लिख गए हैं कि 'Genius is another name for infinite capacity for taking pains.' इसे कभी मत भूलो। लिखने के पहले खूब अध्ययन की आवश्यकता है। पढ़ने से जिनकी मौलिकता नष्ट होती है, उनमें कोई भी मौलिकता रह ही नहीं सकती, यह निश्चित समझो। देखते नहीं, मैं कितना परिश्रम करता हूँ? जितनी बड़ी मेरी पुस्तक होती है,

उससे दसगुना लेख मैं फेंक देता हूँ—काट डालता हूँ। तुम लोग शायद अपने लेख की एक लाइन भी निकाल डालने में ममता के मारे हाय-हाय करने लगोगे !"

रचना

द्विजेन्द्र बाबू की रचनावली निम्न-लिखित है—

नाटक

❋ १ मेवाड़-पतन	❋ ८ शाहजहाँ
❋ २ दुर्गादास	❋ ९ नूरजहाँ
❋ ३ राणा प्रतापसिंह	❋ १० बंगनारी
❋ ४ चंद्रगुप्त	❋ ११ पाषाणी
❋ ५ सिंहल-विजय	❋ १२ सीता
❋ ६ परपारे	❋ १३ सोहराब-रुस्तम
❋ ७ ताराबाई	❋ १४ विरह

प्रहसन

❋ १ पुनर्जन्म	४ एकघरे
२ कल्कि-अवतार	५ बहुत अच्छा
❋ ३ त्र्यहस्पर्श	६ आनंद-विदाय(Parody)

कविता

१ मन्द्र	४ आलेख्य
२ आषाढ़े	५ त्रिवेणी
❋ ३ हासिरगान	६ आर्यगाथा (दो भाग)

❋ इस चिह्नवाली पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

द्विजेन्द्र बाबू सर्व-साधारण में व्यंग्य और हँसी की कविता लिखनेवाले, अर्थात् हास्य-रस-लेखक, कहकर ही अधिक प्रसिद्ध हैं। अवश्य ही यह बात ठीक है कि वह एक-मात्र हँसी की कविताओं के द्वारा ही बँगला के साहित्य में अमर हो गए हैं, किंतु हँसी की कविताओं के अलावा नाटक, प्रहसन, गान तथा अन्यान्य कविताओं में भी उन्होंने अनन्य-साधारण प्रतिभा का यथेष्ट परिचय दिया है। इस छोटी सी जीवनी में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय देना सर्वथा असम्भव है, तथापि स्थूलरूप से उसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ पर कराया जाता है।

द्विजेन्द्र बाबू की रचनावली कवित्व से कमनीय, मौलिकता से उज्ज्वल, विशुद्ध रुचि से मनोज्ञ और श्रेष्ठ भावों से परिपूर्ण है। द्विजेंद्र बाबू एक साथ ही कवि, परिहास-रसिक, दार्शनिक, समालोचक, प्रबंध-लेखक और नाट्यकार हैं।

द्विजेंद्र बाबू की हँसी की कविताओं में सर्वत्र उनकी परिमार्जित रुचि झलकती है। इसके सिवा उनकी कविताओं के भाव और भाषा की गति सर्वत्र स्वाभाविक जान पड़ती है। कहीं कृत्रिमता या कष्ट-कल्पना नहीं नज़र आती। वह किसी के पक्षपाती नहीं थे, इसी से जहाँ वह पाखंड या धूर्तता देखते हैं, वहीं उनकी व्यंग्य की चाबुक चलती है। कभी वह विलायत से लौटे हुए नकली साहबों पर, कभी तिलक-शिखा-धारी अनाचारी ब्राह्मणों पर, कभी देश को धोखा देनेवाले स्वार्थी देश-भक्तों और नेताओं पर, कभी बगला-भगत समाज-संस्कारकों पर और कभी उच्छृंखल बाबुओं पर व्यंग्य की बौछार करते हैं। उनके इन सरस-कठोर

व्यंग्यों के भीतर ऐसी एक स्वभाव-सरल रसिकता झलकती है कि जिस पर आक्रमण किया गया है, वह भी अक्सर हँस देता है, पर भीतर-ही-भीतर अपने आचरण पर उसे लज्जा आती है।

किंतु सत्य के अनुरोध से यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि उनके ये सभी आक्रमण और व्यंग्य न्यायोचित या युक्तियुक्त नहीं हैं। परंतु साथ ही यह बात भी है कि अन्य के निकट न्याय-विरुद्ध मालूम पड़ने वाले व्यंग्यों को स्वयं न्याय-विरुद्ध समझकर भी केवल व्यंग्य करने के लोभ से उन्होंने नहीं लिखा। उन्होंने जो कुछ ठीक समझा, वही सरल भाव से लिख गए।

द्विजेंद्र बाबू के नाटकों में स्वदेश-भक्ति की मात्रा यथेष्ट है। किंतु उसकी नींव सार्वजनीन दया, मैत्री और शुभेच्छा ही है। उनकी देश-भक्ति की परम परिणति देश-काल-पात्र-निर्विशेष भाव से संपूर्ण जगत् के मंगल की इच्छा में है। उनकी देश-भक्ति किसी जाति या देश के ऊपर घृणा का भाव नहीं उत्पन्न करती। द्विजेंद्र-लाल जानते थे कि धर्म की उन्नति से ही जाति का कल्याण होगा-देश का त्राण होगा। यह भी उनकी धारणा थी कि बाहरी आचार के आडंबर ने धर्मदेव के असली रूप को छिपा रक्खा है। इसी से उनकी रचना में अनेक स्थानों पर आचारगत कुसंस्कारों पर भयानक आक्रमण देख पड़ता है।

द्विजेंद्रलाल स्वभाव से ही कुछ निराशावादी (Pessimist) थे। असल में वह पाश्चात्य भाव के दार्शनिक थे। वह तार्किक और युक्तिवादी थे। किंतु तर्क की तो कोई सीमा—कोई मीमांसा

नहीं है। वह जगत् के हर एक विषय को तर्क के द्वारा समझने की चेष्टा करते थे। तर्क का अंत न पाकर अंत को अनेक स्थलों में संदेह-वादी हो पड़े थे। इसी कारण अनींद्रिय अनुभूति या आध्यात्मिकता की दृष्टि से उनकी कविता का स्थान ऊँचा नहीं है। उनकी कविता पढ़ने से समझ पड़ता है, वह Personal God नहीं मानते थे।

संसार के अनेक बीभत्स व्यापार देखकर जब उन पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है, तब मनुष्य किसी विश्वातीत, अप्रत्यक्ष, चैतन्यमय, सर्वशक्तिमान् की सत्ता पर विश्वास करके सांत्वना और शांति पाता है। इस विश्वास के प्रभाव से भी लोग, संसार की इतनी निराशा, इतनी अपूर्णता और दुःख-दुर्गति के रहने पर भी संपूर्ण रूप से निराशावादी नहीं हो जाते। किंतु जिनकी जगत् के ऊपर से श्रद्धा हट गई है, लेकिन जो तर्क के द्वारा किसी ऐसी अनींद्रिय निर्दिष्ट सत्ता का अनुभव नहीं कर सकते, जो सर्वशक्तिमान्, न्यायपरायण, अंतर्यामी और सब प्राणियों पर दया रखने वाली है, तो उनके हृदय में निराशभाव का आना अनिवार्य हो उठता है। द्विजेंद्रलाल की दशा भी ऐसी ही थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों में संदेहवादी कर्मी पुरुषों के चित्र ही अधिकतर अंकित किए हैं। उनके शक्तसिंह, दारा और चाणक्य आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

द्विजेंद्रलाल को हम अंतर्जगत् का कवि कह सकते हैं। वह एक दार्शनिक की दृष्टि से रचना करते थे। अर्थात् बहिःप्रकृति की अपेक्षा अंतःप्रकृति में ही वह अधिकतर अभिनिविष्ट थे। इसी

कारण, अंत को उनकी कवित्व-शक्ति ने नाट्य-रचना के भीतर परिणति पाई। उन्होंने आकाश-वायु, प्रकाश-छाया आदि की अपेक्षा सुख-दुःख, स्नेह-प्रीति, भक्ति-अनुकंपा आदि विषयों को लेकर ही अधिक रचना की है। अंतःप्रकृति का वर्णन करने में बहिःप्रकृति का विश्लेषण करने की जितनी ज़रूरत होती है, उतना ही वह बहिःप्रकृति को ग्रहण करते थे। उनकी रचना में बहिःप्रकृति अंतःप्रकृति को स्पष्ट और विकसित करने का उपायमात्र है। नाटकों में भी उन्हों ने अंतःप्रकृति के साथ परिपूर्ण मात्रा में सहानुभूति रखकर बहिःप्रकृति का वर्णन किया है। अपनी प्रकृति के अनुसार वह प्रकृति के भीतर उस आनंदमय जगदीश्वर की क्रीड़ा देखकर भक्ति से पुलकित नहीं हुए, अथवा रूप के भीतर उस अरूप का स्पर्श करके गद्गद कृतकृत्य नहीं हो उठे; बल्कि प्रकृति की कार्य-कारण-शृंखला का निर्णय न कर पाकर वह एक रहस्य से मुग्ध और विस्मय से अवाक् हो गए हैं। उन्हों ने प्रकृति को युक्ति से, तर्क से, विज्ञान से अच्छी तरह समझने की चेष्टा की है। किंतु प्रकृति से तो कभी कोई इस तरह प्रश्न करके कुछ भी समझ नहीं सका! द्विजेंद्रलाल भी नहीं समझ सके।। नतीजा यह हुआ कि उनके हृदय में संदेहवाद ने जड़ जमा ली। द्विजेंद्रलाल की रचना में प्रायः आप यह देख पाएँगे कि वह प्रत्यक्ष को लेकर, उसी को व्यक्त करके, तृप्त रहती है। अतएव द्विजेंद्रलाल Realistic तथ्यात्मक हैं।

द्विजेन्द्र बाबू ने 'पाषाणी', 'ताराबाई', 'सोहराब-रुस्तम' और 'सीता', ये गीति-नाट्य लिखे हैं। सीता की कविता में तुकांत मि-

लाया गया है, शेष सब की रचना अमित्राक्षर छंद में हुई है। उनके अमित्राक्षर छंद माइकेल मधुसूदनदत्तके जैसे गम्भीर या तेजस्वी और रवींद्रनाथ के जैसे ललित-मधुर नहीं हैं। मतलब यह कि अमित्राक्षर-छंद के नाटकों की रचना में द्विजेन्द्र बाबू अच्छी तरह सफलता नहीं प्राप्त कर सके। तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनकी उस रचना में भी छंद की सहज गति और भाव प्रकट करने की सहज स्वाभाविकता अवश्य पाठक के हृदय पर असर डाले बिना नहीं रह सकती।

उन्होंने सीता काव्य में पौराणिक राम-चरित्र को युक्ति और तर्क के द्वारा जैसा समझा वैसा ही प्रकट किया। वह काव्य-रचना और अपने जीवन में सर्वथा स्वाधीनता-प्रिय थे। उनके पाषाणी-नाटक में भी अहल्या-चरित्र के चित्रण में यह स्वाधीनता देख पड़ती है। उनका सोहराब-रुस्तम नाटक अवश्य ही उनकी लेखनी के योग्य नहीं हुआ; किन्तु सीता-काव्य वास्तव में एक अमूल्य रत्न है।

उनके प्रहसन एकघरे, विरह, कल्कि-अवतार, बहुत अच्छा, पुनर्जन्म आदि में विविध समाज-चित्र और सुरुचि-संगत हास्य है। उनका नाट्य-साहित्य बहुमूल्य है। उनके नूरजहाँ, चाणक्य और औरंगजेब के चरित्रों की कल्पना अद्वितीय है। उनके नाटक तीन तरह के हैं—सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक।

द्विजेन्द्र बाबूने महाबतखांके चरित्र में आदर्श,कर्तव्य-परायणता, प्रतापसिंह में आदर्श स्वदेश-भक्ति की दृढ़ता, हेलेन के चरित्र में आदर्श-प्रेम और आत्मत्याग, चंद्रकेतु में आदर्श बंधु-प्रेम, कासिम

में प्रभु-भक्ति और दुर्गादास में आदर्श चरित्र को अच्छी तरह तुलनीय रूप से अंकित किया है।

मतलब यह कि वह अपने समय के एक आदर्श नाट्यकार, महाकवि और अनुकरणीय आदरणीय महापुरुष थे।

यह पुस्तक खास
अच्छी नहीं है

* क र. के. स
राज कुमारी
रर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक

प्रो० वेद्व्यास एम० ए०

विस्तृत साहित्यसेवा—रवीन्द्रनाथ इस समय के विश्व-विख्यात लेखकों में से हैं। विश्व-साहित्य में उनका यश अधिकतर गीति-काव्य के आधार पर है। वास्तव में रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं हैं उन्होंने साहित्य के अनेक विभागों में ख्याति प्राप्त की है। वे एक ऊँचे दर्जे के नाटक-कार, उपन्यासकार और साहित्य-समीक्षक हैं। उनकी साहित्यिक कृतियों का दायरा बहुत विस्तृत है, परन्तु उनकी सब कृतियों में एक बात अवश्य पाई जाती है—उनके दार्शनिक और कला-सम्बन्धी विचार। उनके लिखे हुए ग्रन्थों का रूप विचित्र और विविध होने पर भी उनका वास्तविक सार एक ही है, उन सब का एक ही संदेश है।

बँगला रङ्गमंच की ओर उदासीनता—एक प्रसिद्ध नाटक-कार होते हुए भी रवीन्द्रनाथ बँगला रंग-मंच से सर्वथा अलग रहे हैं। उनकी नाटक-रचना स्वतन्त्र है। उसका ढंग बिलकुल निराला

है। और इस लिए ऐसा मालूम होता है कि रवीन्द्रनाथ के नाटकों का आधुनिक बँगला नाटक-साहित्य के विकास से बहुत थोड़ा संबंध है। रवीन्द्रनाथ ने नाटक लोक-रुचि के लिए नहीं लिखे। उन्होंने अपने नाटकों के लिए लोक-रुचि पैदा की है। इस लिए बँगला-नाटक-मंडली पर उनके नाटकत्व का बहुत प्रभाव नहीं पड़ा।

वाल्मीकि-प्रतिभा—बीस वर्ष की उमर में रवीन्द्रनाथ ने नाटक-कला के क्षेत्र में प्रवेश किया और वाल्मीकि-प्रतिभा नाम का गीति नाटक लिखा। भारतीय और योरुपीय संगीत, दोनों में रवीन्द्रनाथ की रुचि बहुत थी। उनके परिवार का वायुमण्डल भी उस समय ऐसा था कि रवीन्द्रनाथ के हृदय पर उसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। उनके दिल में यह भावना उत्पन्न हुई कि भारतीय संगीत को इसकी चीर-बद्ध सीमाओं से मुक्त करना चाहिए। वे जानते थे कि भारतीय और योरुपीय संगीत में कितना भारी अन्तर है, फिर भी वे नया तजुरबा करना चाहते थे। बाद में उन्होंने स्वयं लिखा है—'मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि जब मैंने भारतीय संगीत के नियमों का उल्लंघन किया और इतनी अधिक स्वतन्त्रता से संगीत के क्षेत्र में नए विचार उपस्थित किए तो साहित्यिक समाज ने कोई विशेष रोष प्रकट नहीं किया, बल्कि जो मित्र इन गीतों को सुनते थे, संतोष ही प्रकट करते थे।' वाल्मीकि के डाकुओं के गीतों के लिए दो अँगरेजी सुरों का प्रयोग किया गया। विलाप के संगीत के लिए

आयरलैंड की एक सुर को इस्तेमाल किया गया। अधिकतर गीत भारतीय ढाँचे पर थे, परन्तु उन की रचना भी बहुत स्वतन्त्रा से की गई थी।वाल्मीकि-प्रतिभा का कथा-सूत्र रामायण से लिया गया है। डाकू-राज वाल्मीकि ने देखा कि आकाश में क्रौंच-पक्षियों का एक जोड़ा पारस्परिक प्रेम में डूबा हुआ उड़ा जा रहा है। इतने में ही एक शिकारी ने कमान उठा, निशाना बांध, तीर चला कर नर-पक्षी को मार गिराया। पति की—मृत्यु से क्रौंची बेतरह व्याकुल हो उठी और चिल्लाने लगी। यह करुणा-जनक दृश्य देख कर वाल्मीकि का हृदय दया से पसीज गया और उस आवेश की अवस्था में उसकी वाणी से प्रथम छन्द निकला। उसकी प्रतिभा जागृत हो उठी और उसी श्लोक छन्द में उसने रामायण की रचना की।

काल-मृगया—'वाल्मीकि-प्रतिभा' की सफलता के बाद रवीन्द्रनाथ ने अपना दूसरा गीति-नाटक 'काल-मृगया' लिखा। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। कौरवराज धृतराष्ट्र एक अन्धे मुनि के इकलौते बेटे की भूल से हत्या करते हैं और मुनि के शाप से सदा के लिए अन्धे हो जाते हैं।

माया का खेल—बहुत समय के बाद रवीन्द्रनाथ ने अपना तीसरा गीति-नाटक 'मायार-खेला' (माया का खेल) रचा। यह पहले दो नाटकों की शैली पर नहीं लिखा गया। इसमें नाटकत्व की प्रधानता नहीं थी, संगीत ही प्रधान था। मानो यह नाटक गीतों की एक माला थी जिसका सूत्र एक नाट्य-कथा के

रूप में है। इसी नाटक की कथा के आधार पर बाद में एक गद्य-नाटक 'नलिनी' लिखा गया।

प्रकृति-प्रतिशोध—१८८३ ई० में रवीन्द्रनाथ ने 'प्रकृति प्रतिशोध' नाटक लिखा। इस नाटक का अँगरेज़ी अनुवाद 'संन्यासी' के नाम से किया गया। यह एक नाट्य-मय कविता है। यह तुक-हीन छन्दों में लिखी गई है। एक संन्यासी संसार से विरक्त हो कर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है। उसकी विफलता की कहानी ही इस नाटक की कथा-वस्तु है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवनी का एक पूरा अध्याय इस नाटक के संदेश के स्पष्टी-करण में लिखा है। रवीन्द्र-नाथ की प्रतिभा और मानसिक जीवन के विकास में इस नाटक का एक विशेष स्थान है। जिन विचारों पर रवीन्द्रनाथ की कला का आधार है, उन्हीं का प्रदर्शन इस नाटक में मिलता है। मानवी वृत्तियों को रोकने का प्रयत्न निष्फल है। ऐसी कठिन प्रतिज्ञा अन्त में टूट जाती है। ऐसा व्रत निपट निष्प्रयोजन है। यही इसका संदेश है।

राजा-रानी—'राजा रानी' नाटक १८९० ई० में लिखा गया। महाराज विक्रम अपनी रानी के प्रेम में आसक्त हो कर राज-काज को छोड़ देते हैं। राज्य में अराजकता फैल जाती है। रानी की प्रेरणा भी सफल नहीं होती। शत्रु राज्य पर आक्रमण करते हैं परन्तु महाराज लड़ने के लिए तैयार नहीं होते। अन्त में रानी निराश होकर राजधानी से चली जाती है और अपने भाई कुमार सेन से प्रार्थना करती है कि वह उस के पति के राज्य की रक्षा के

लिए सहायता दे। महाराज विक्रम अपने अभिमान पर इस आघात को सहन नहीं कर सकते और निश्चय करते हैं कि रानी से इस अपमान का घोर बदला लिया जाय। वे कुमारसेन पर चढ़ाई करते हैं और अपने सैन्य-बल के मद में मस्त हैं। महारानी तीन बार यह प्रयत्न करती है कि महाराज से उस की भेंट हो, परन्तु महाराज विक्रम भेंट करने से इन्कार कर देते हैं। "यह स्थान और समय एक स्त्री को देखने के लिए उपयुक्त नहीं"। कुमार सेन का सेवक शंकर महाराज से पूछता है—'क्या यह आप जैसे तेजस्वी राजा के लिए उचित है कि एक छोटे से घरेलू झगड़े के कारण इतना बड़ा युद्ध ठान लिया जाय और सारे देश को बर्बाद किया जाय। क्रुद्ध विक्रम उत्तर देता है—'बूढ़े, चुप रहो। तुम्हारी जीभ खतरनाक होती जा रही है। जाओ, अपनी रानी को कह दो कि जब उसका भाई कुमारसेन हार मानकर अपने आप को हमारे सिपुर्द कर देगा, उस समय, क्षमा के प्रश्न पर विचार किया जायगा।' एक पहाड़ी प्रदेश का राजा अमरू अपनी सुन्दरी कन्या इला को महाराज विक्रम की भेंट करता है। इला महाराज से कहती है कि उसे कुमारसेन से प्रेम है और प्रार्थना करती है कि कुमारसेन को जीवन-दान दिया जाय। महाराज के हृदय में एक विशेष भाव का उदय होता है—"कुमार सेन को अवश्य प्यार करो..............मेरे प्रेम का स्वर्ग उजड़ चुका है परन्तु तुम्हें प्रसन्न देखने में मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। मैं तुम्हारे प्रेम का लालच नहीं करूँगा। वृक्ष की शुष्क हुई शाखा बाहिर से लाए हुए पुष्पों से पुष्पित

नहीं हो सकती। विश्वास रक्खो, मैं तुम्हारा मित्र हूँ और मैं कुमारसेन को तुम्हारे पास लाऊँगा। तुम अपने विवाह के लिए तैयारी करो।"

इधर कुमार सेन भी महाराज विक्रम का रोष सह सकता है परन्तु उसकी उदारता सहन नहीं कर सकता। वह अपना सिर काट देता है। रानी अपने प्यारे भाई के कटे हुए सिर को एक थाल में रख कर महाराज की भेंट करती है। शोक-विह्वला रानी मूर्छित हो जाती है और प्राणत्याग कर देती है। इतने में वधूवेश में सुसज्जित इला प्रवेश करती है और कहती है—"महाराज मैं विवाह का मधुर संगीत सुन रही हूं। मेरा प्रियतम कहाँ है ? मैं विवाह के लिए तय्यार हूं।"

विसर्जन—राजा रानी के बाद रवीन्द्रनाथ ने 'विसर्जन' नाटक की रचना की। श्रीयुत ई० जी० टामसन की दृष्टि में 'विसर्जन' बंगला साहित्य का सर्वोत्तम नाटक है। इस की कथावस्तु नाटककार ने अपने उपन्यास राजर्षि से ली है। महाराज के सन्तान नहीं है। महारानी गुणवती पुत्रेच्छा के कारण काली को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ की तय्यारी करती है, जिस में एक बकरी की बलि दी जाती है। इतने में महाराज आते हैं। उन के साथ अपर्णा नाम की एक भिखारिणी बालिका है। महाराज मन्दिर के पुजारी जयसिंह से पूछते हैं—"क्या यह सच है कि इस गरीब लड़की की चहेती बकरी को ज़बरदस्ती छीन लिया गया है"। जयसिंह से पता चलता है कि बकरी बलि के लिये छीन ली गई है।

उस लड़की के करुण विलाप को सुन कर महाराज का हृदय पसीज जाता है और वे आज्ञा देते हैं कि मन्दिर में पशु-बलि बन्द कर दी जाय। राजपुरोहित रघुपति इस राजाज्ञा के विरुद्ध आन्दोलन करता है। वह सेनापति को महाराज के विरुद्ध भड़काने का निष्फल प्रयत्न करता है। इस के बाद रघुपति मन्दिर के पुजारी को महाराज के वध के लिये तैयार करता है परन्तु जय-सिंह ऐसे कुत्सित काम से ग्लानि के कारण आत्म हत्या कर लेता है

मालिनी—विसर्जन के बाद 'मालिनी' नाटक की रचना हुई। इस में आधुनिक हिन्दु समाज के अन्ध-विश्वास का चित्र दिखाया गया है। १९१८ में मालिनी नाटक का अभिनय मद्रास में बड़े समारोह से किया गया था। नाटक के एक्टरों में कई युरोपियन भी थे। इस अवसर के लिये एक गीत कवि हरीन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय ने तैयार किया था।

१८९२ में रवीन्द्र नाथ ने 'चित्रा' नाम का गीति-नाटक लिखा-इसकी कथा वस्तु पौराणिक है। टामसन के विचार में यह नाटक रवीन्द्रनाथ की सर्व श्रेष्ठ कृतियों में से है। भाषा-लालित्य और विचारसौन्दर्य दोनों की दृष्टि से यह नाटक अनुपम है। इस की अतुकान्त कविता सचमुच बहुत मधुर है। चित्रा का १९१९ में अंगरेज़ी में अनुवाद किया गया। चित्रा मणिपुर के राजा चित्र-वाहन की इकलोती कन्या है। राजा ने उस का पुत्रवत् पालन किया है। अर्जुन वनवास के कारण घूमता हुआ मणिपुर आता है। चित्रा और अर्जुन की प्रेम कहानी ही इस नाटक का कथा-

सूत्र है। कहा जाता है कि चित्रा नाटक में रवीन्द्र नाटक के सौन्दर्य प्रेम की पराकाष्ठा है और मानवीय हृदय के मृदुल भावों का उज्ज्वल चित्र है।

विदाय अभिशाप—इस के बाद रवीन्द्रनाथ ने अपनी नाटक शैली में एक विशेष परिवर्तन किया और उन्हों ने एक प्रकार के संवाद-नाटक लिखने आरम्भ किये। इन संवाद-नाटकों में सर्वोत्तम शायद 'विदाय-अभिशाप' है। यह सम्भवतः १८९३ में लिखा गया और इस का अंगरेज़ी अनुवाद १९२४ में हुआ। इस सम्वाद-नाटक का आधार महाभारत के एक प्रसिद्ध आख्यान पर है। देवासुर संग्राम में जो असुर मारे जाते हैं, उन को असुरों के राज-गुरु शुक्र अपनी संजीवनी-विद्या से पुनर्जीवित कर देते हैं। देवगुरु बृहस्पति अपने पुत्र कच को शुक्र के आश्रम में भेजते हैं ताकि वह शिष्य रूप से संजीवनी विद्या को प्राप्त करले। विद्या समाप्त करने पर कच शुक्र की कन्या देवयानी से विदा लेता है। देवयानी कच के प्रति प्रेम प्रकट करती है और उसे प्रेरणा करती है कि वह उस के पास रहे। कच देवयानी के प्रेम को अस्वीकार करता है। देवयानी दुःखित हृदय से शाप देती है "हाय। आज मेरे जीवन की सारी ज्योति मिट्टी में मिल गई है। अच्छा जाओ, परन्तु जाते हुए मेरा शाप साथ ले जाओ। जिस विद्या के कारण तुम ने मेरे प्रेम के प्रति घृणा प्रकट की है, वह विद्या कभी वास्तव में तुम्हारी नहीं होगी"। नाटक का वायुमण्डल सर्वथा भारतीय है। ऋषि आश्रम, ऋतुओं का वर्णन, कच का विद्यार्थी जीवन, ये सब प्राचीन

भारतीय सभ्यता के रंग में रंगे हैं। परन्तु प्रेम और विद्या का संघर्ष, एक पुरुष और स्त्री का मानवी समस्याओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण इत्यादिभाव नाटककार की अपनी कल्पना के आविष्कार हैं।

अन्य संवाद-नाटक—रवीन्द्रनाथ के अन्य संवाद-नाटकों में भी कई उल्लेखनीय हैं—(१) गान्धारी प्रार्थना। इस की रचना १८९७ में हुई और इस का अंगरेज़ी अनुवाद १८१६ में माडर्न रिव्यू में प्रकाशित हुआ। (२) लक्ष्मी-परीक्षा। (३) कर्ण और कुन्ती। ये तीनों एकाङ्की-नाटक हैं और इन का कथा-वस्तु पौराणिक है।

इस लेख में रवीन्द्र नाथ के प्रतिनिधि नाटकों का संक्षेप से वर्णन किया गया है। इस के अतिरिक्त रवीन्द्र नाथ ने कई और नाटक लिखे हैं—चिरकुमार सभा, गोराम गलद। अथवा शेष रक्षा, मुक्तधारा, गृहप्रवेश इत्यादि।

श्री जयशंकर प्रसाद

लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट

हिन्दी नाटक कारों में बाबू जयशंकर प्रसाद का स्थान बहुत ऊँचा है। इससे पूर्व और भारतेन्दु के बाद जिन लोगों ने भी नाटक लिखे या अनुवाद किये उनमें मौलिकता और नाट्यकला का सर्वथा अभाव है। उनमें कुछ नाटक तो अनुवादमात्र ही कहे जा सकते हैं। और कुछ मौलिक होते हुए भी अस्वाभाविक, नाटककार प्रसाद ने अपनी प्रतिभा और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से जो नाटक लिखे हैं वे रंगमंच के उपयुक्त न होते हुए भी साहित्यिक और शास्त्रीय ज़रूर हैं।

उन्होंने बौद्ध कालीन नाटकों की रचना करके न केवल हिन्दी में मौलिक नाटकों की स्थापना की है किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषण भी किया है। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में उनके गहरे अनुसंधान से मालूम होता है कि वे पूरे इतिहासकार भी हैं। हिंदी साहित्य-सम्मेलन के साहित्य परिषद् के सभापति की हैसियत से आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने एक बार कहा था, यह देखकर मुझे

अत्यन्त आनंद होता है कि प्रसाद के नाटकों में विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेषता है, प्राचीन काल के रीति व्यवहार शिष्टाचार शासन व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास सम्मत्त चित्रण, वस्तु विन्यास और शील निरूपण का कौशल भी उत्कृष्ट कोटि का है, उनके रचे अजात शत्रु, स्कन्ध गुप्त, चन्द्रगुप्त आदि नाटकों को लेकर आज हिंदी पूरा कर सकती हैं।

नाटककार प्रसाद ने जिन भावनाओं और प्रेरणाओं के आधार पर अपने नाटकों की रचना की है वे सर्वथा उनहीं के उपयुक्त हैं इन पंक्तियों के लेखक को भी नाटककार से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ है। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह देखा है कि प्रसाद बौद्ध इतिहास के एक मूर्तरूप हैं।

नाटककार में भी कवि के समान युवदर्शन की प्रतिभा होनी चाहिए, बलिक यों कहना चाहिए जिस प्रकार ललित कलाओं में काव्यकला का स्थान उत्तम है उसी प्रकार काव्यकला में दृश्य-कला बहुत ऊँची है। एक नाटककार को वस्तु सम्वाद चरित्र चित्रण में उसी युग का प्रतिबिम्ब देखना चाहिये जिस युग का नाटक वह लिख रहा है। इस विचार से प्रसाद को पूर्ण सफलता मिली है। चंद्रगुप्त नाटक के चाणक्य, सिंधुहरण, आंभीक, चंद्रगुप्त, सल्यूकस, नन्द, राक्षस, वररुचि, आदि पात्र अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते पाये जाते हैं।

उनकी नाट्यकला का विकास भी बड़ी तीव्र गति से उसी ओर हुआ है। उनकी अलका, कल्याणी सुभाषिनि, मालविका

और कारनेसिया इसी युग का प्रतिबिम्ब हैं। यही सबसे बड़ी स्वाभाविकता है जो हम उनके पात्रों में देखते हैं।

नाट्य-कला-नाटककार प्रसाद की कला बिम्ब और प्रतिबिम्ब वाद के आधार पर चली है। उन्होंने वस्तु और कथोपकथन के आधार पर बना कर अपने पात्रों का निर्माण किया है। वैकग्राउण्ड में जिस प्रकार चरित्रों का निर्माण किया गया है वह उनकी सबसे श्रेष्ठ कला है। वस्तुतः मनुष्य के छोटे-छोटे और मूक अभिनयों को हृदय के अन्तर्द्वन्दों को चरित्रों के अंगविकारों को लक्षण और व्यञ्जना द्वारा व्यक्त करना ही श्रेष्ठ नाट्यकला है। चंद्रगुप्त नाटक में इसी प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करके चाणक्य और चन्द्रगुप्त की भावनाओं को उद्दाम गति से बहाया गया है। चाणक्य जब हृदय की इच्छा के अनुकूल घटनाओं को घटित होते देखता है तब वह अपना विशेष लक्ष रखते हुए भी अपनी चेतना का समग्र प्रवाह उसी ओर ले जाता है। अभीष्ट और अनभीष्ट परिस्थितियों में उसके प्राण उसी राग का मूक गायन करते हैं और अनभीष्ट परिस्थितियों से न घबराकर पत्थर के समान कठोर और पर्वत के समान अचल वह चाणक्य केवल अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि रखता है और अपने सब क्रिया कलाओं को चन्द्रगुप्त के प्राणों में अभिषिक्त करके आगे बढ़ता चला जाता है। वह विपत्तियों के अन्तराल में अपनी छिपी हुई सजल आशायें पाता है।

और दृढ़ता की हँसी हँस देता है। सारे पात्र जैसे उसी के

मूक इशारों पर अभिनय करते चलते हैं नाटककार ने इस नाटक में चन्द्रगुप्त को शरीर और चाणक्य को आत्मा बनाया है। जैसे आत्मा शरीर से भिन्न कोई वस्तु नहीं, और उसकी प्रत्येक चेष्टा का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। ठीक इसी तरह चाणक्य का प्रतिबिम्ब चन्द्रगुप्त है। वह चन्द्रगुप्त वही सोचता है जो चाणक्य चाहता है। वही करता है सो उसे अभिलषित है। वह वीर होते हुए भी दास है। अथवा यों कहना चाहिए कि चन्द्रगुप्त चाणक्य की छाया है। विरोध उत्पन्न होने पर और अपनी प्रतिष्ठा में बट्टा लगते देख कर भी जैसे वह कुछ नहीं कर सकता।

इतिहास में चन्द्रगुप्त का जो रूप हम देखते और पढ़ते हैं। और चाणक्य की चोटी के एक एक बाल के हिलने में राज्यों के उत्थान और पतन की जो एक लहर अभिलक्षित होती है। वही, ठीक वही बात हमारे सामने इस नाटक में दिखाई देती है। इस चेष्टा को बड़ी सूक्ष्मता से नाटककार ने सुलझाया है। इसी प्रकार अजातशत्रु नाटक में भी अजात शत्रु का चरित्र बड़ी सूक्ष्मता से अपने उद्देश्य के प्रति अग्रसर हुआ है। यह नाटककार की सब से बड़ी विजय है। मेरा विचार है कि नाटक की मूल प्रकृति—भित्ति पर उठ कर उनके चरित्र स्वयं अपना एक उद्देश्य लेकर चलते हैं। उनका अपना मानव संसार एक विशेष युग का प्रतिबिम्ब सा देख पड़ता है। कुछ लोगों का विचार है कि अन्तर द्वन्द ही नाट्यकला की सबसे बड़ी विशेषता है। अन्तर-द्वन्द के बिना उच्च श्रेणी का नाटक बन ही नहीं सकता। इसका उत्तर देते हुए प्रसिद्ध कला मर्मज्ञ राय कृष्णदास ने अजात शत्रु

की भूमिका में जो विचार प्रगट किये हैं। उनका उद्धरण अनुपयुक्त न होगा।

वे लिखते हैं :—

"यह सिद्धान्त किसी अंश में ठीक है। क्योंकि ऐसा होने से काव्य में प्रशंसित लोकोत्तर चमत्कार बढ़ता है। किन्तु, यही सिद्धांत चरम है, ऐसा मानना कठिन है, क्योंकि अन्तर्विरोध से बाह्य द्वन्द, जगत् का उद्भव और इस बाह्यद्वन्द का काल-क्रम से शीघ्र अवसान होता है—इसी का चित्रण कवि के अभीष्ट को शीघ्र समीप ले आता है।

अन्तर्द्वन्दमय अपूर्णता में घटना का अन्त कर देना उसे कल्पना का क्षेत्र बना देना छोटी घटनाओं पर अवलम्बित आख्या-यिकाओं का काम है। यदि नाटककार अपने ऊपर यह भार उठावें तो उनसे वृत्तियों को केवल चञ्चलता की शिक्षा मिलेगी, और सन्देह-वाद की पुष्टि होगी। और चरित्र-गठन को उपकरण देने से तथा मानव-समाज के ज्ञान-साधन में सहायक होने से—जो नाटक का उद्देश नहीं तो निर्देश अवश्य है—वे अन्ततः वंचित ही रहेंगे।

बाह्यद्वन्द का-जगत् का हमारे जीवन से विशेष सान्निध्य है। इसी महा नाटक से हम अपने चरित्र के लिए—उपकरण ग्रहण करते हैं, आदर्श बनाते हैं, अनुकरण करते हैं। अतः जो चरित्र मानवता की साधारण गति के समीप होगा वही उसे विशेष शिक्षा देगा। साथ ही विशेष विनोद की सामग्री जुटावेगा। जो दूर है वह केवल कौतुक और आश्चर्य ही का उद्दीपन करेगा। वह प्रबल

प्रतिघात तथा वृत्तियों को विपरीत धक्के खिलाकर उत्तेजित करके अथवा बलवती वासनाओं को दुर्दान्त मानव रूप में अति चित्रण करके समाज में कुतूहल उपजायेगा। उसकी चञ्चलता बढ़ावेगा और उसमें क्रान्ति करा देगा। ऐसे ही नाटक चाहे वे रचना में प्रसादान्त क्यों न हों, मानवता के लिये, परिणाम में विषादान्त होते हैं।

किंतु जहाँ वासनाओं का चरित्र के साथ उत्थान और पतन तथा संघर्ष होगा, साथ ही उत्कट वासनाओं का आरम्भ होकर शान्त हृदय में अवसान होगा, वह नाटक मरणान्त भले ही हो किन्तु है मानवता के लिए प्रसादान्त। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक यह भी मुख्य विशेषता है।

अजातशत्रु का अन्तिम दृश्य इसका प्रस्तुत प्रमाण है यद्यपि अन्त में बिम्बसार का लड़खड़ाना यवनिका पतन के साथ उसके मरण का द्योतक है, किंतु जिन वाक्यों को कहता हुआ वह लड़खड़ाता है वे वाक्य तथा उसी क्षण भगवान् गौतम का प्रवेश, बिम्बसार के हृदय की तथा उस अवसर की पूर्ण शान्ति के सूचक हैं।

मैं समझता हूं राय साहब का यह कथन सर्वथा युक्ति युक्त नहीं है। संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व ही जीवन की एक क्रिया है। जिसमें कभी कभी हमें सत्य दिखाई दे जाता है। मानव समाज प्रकृति और प्राण इन तीनों का बाह्य रूप इतना सौन्दर्यमय इतना उग्र और इतना चरम आवरणों से पूर्ण है कि उसमें सत्यांश बहुत कम चमक पाता है। यदि जीवन में संघर्ष न माना जाय तो वह एक सीधे

जल प्रवाह की तरह होगा, जो बड़ी शान्ति से अपने लक्ष्य की ओर चला जाता है। परन्तु लक्ष्य की ओर जाना बिना किसी रुकावट के और बिना किसी संघर्ष के उसकी कोई महत्ता नहीं। जिस प्रकार संसार में सूक्ष्म सुख और दुख, हर्ष और विषाद, ईर्षा और द्वेष, छल और कपट के चलते रहने का नाम संसार है। जिस प्रकार, सतोगुणी प्रवृत्तियों का तामसी प्रवृत्तियों से राजसी प्रवृत्तियों का सात्विक प्रवृत्तियों से संघर्ष होने का नाम संसार है। उसी प्रकार नाटक संसार में भी संघर्ष एक उपादेय वस्तु है। नाटक की मूल घटना में पात्रों के प्राण, प्राणों की चेतना, चेतना के व्यापार पर अवलम्बित है। घटनाओं का निर्माण करना भी उपर्युक्त वृत्तियों का कार्य है। तब कैसे कहा जा सकता है कि अन्तर्विरोध से बाह्य द्वन्द्व और जगत का उद्भव है और इस बाह्य द्वन्द्व का क्रम से शीघ्र अवसान होता है। वस्तुतः देखा जाय तो अन्तर्द्वन्द्व ही बाह्य द्वन्द्व में प्रतिबिम्बित होकर आता है।

उस प्रतिबिम्ब को हम उस समय तक नष्ट नहीं कर सकते जब तक जीवन है। मैंने यह ऊपर ही बता दिया है कि घटनाएँ अन्तर्द्वन्द्व का उपलक्षण मात्र हैं। यदि घटनाएँ न होंगी तो नाटककार की कल्पना का पर्यवसान न हो जायगा और वह प्राणहीन शान्त कथोपकथन यह वस्तु जीवन में किसी प्रकार की भी उत्तेजना न कर सकेगी। वह नाटक ही नहीं कहानी भी न रहेगी। इसी लिये प्रसाद के नाटकों में योरुपीय नाटकों की तरह उत्तेजक प्राण नहीं है।

वे शान्त स्निग्ध समतल भूमि पर चल कर प्रार्थना की तरह

उठते हुए अभिलाषा में समाप्त हो जाते हैं। कोई भी नहीं कह सकता कि अजातशत्रु की अपेक्षा उनका चन्द्रगुप्त नाटक अच्छा नहीं है। उसका अच्छा होना केवल चाणक्य और नन्द के संघर्ष पर ही अवलम्बित है।

अब जरा प्रसादान्त और विषादान्त नाटकों के सम्बन्ध में भी कुछ विवेचना होनी चाहिए। वह केवल इतनी ही जितने से राय साहब के कथन की विवेचना हो सके। प्रसाद जी के नाटकों में सर्वत्र बौद्ध इतिहास के कथानक हैं। बौद्ध इतिहास में मूल हेतु पतन से उत्थान की ओर हैं। तब यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक पात्र भगवान बुद्ध के संयोग में आकर या वैसे ही किसी महात्मा की तेजोमण्डित मुख दीप्ति से अभिभूत सा होकर अपने जीवन की स्वाभाविक गति छोड़ मानवता के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ता हुआ प्रतीत हो। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यही प्रसाद जी के नाटकों की सब से बड़ी विशेषता है। यह तो कथानक का निर्देश है। हाँ, वस्तु कथा चुनने में नाट्यकार प्रसाद ने उहापोह अवश्य की है। इसी लिए उनके नाटकों का उत्थान और पतन के साथ आरम्भ होकर वासनाओं के पन्थ से स्नेह हुए पात्रों का हृदय की शान्ति में अवसान होता है।

चरित्र चित्रण—नाटककार के सब नाटकों को मिलाकर देखा जाय तो पात्रों की रचना का वैयिविध्य दिखाई देगा, कुछ पात्र उनके बहुत साधारण हैं और कुछ विशेष। दोनों ही प्रकार के पात्र पतन की ओर नहीं, किन्तु उत्थान की ओर चलते हैं।

इनके पात्रों में एक प्रकार से दो प्रकार का व्यक्तित्व है। अर्थात् अपना और नाटककार का भी इसके अतिरिक्त प्रसाद जी की कला भाग्यवाहिनी दिखाई देती है। स्कन्धगुप्त में उसका नायक कुछ इसी प्रकार के विचार प्रगट करता हुआ कहता है—

चेतना कहती है तू राजा और उसके उत्तर में कहा जाता है कि तू खिलौना है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त में चाणाक्य जिसकी भृकुटि भंगिमा से राज्यशक्तियाँ नष्ट हो गईं नियति कि दुहाई देता हुआ सुना जाता है। इसके अतिरिक्त उनके पात्रों में दार्शनिकता भी खूब है। उनके छोटे बड़े सभी पात्र मनुष्य, ईश्वर, समाज, और प्रकृति की गुत्थियाँ सुलझाते हुए देख पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध, भास, दाण्डायन, संघरण, सारिपुत्र, दीर्घ-कारायण, श्रीकृष्ण, व्यास आदि पात्रों की उक्तियाँ नाटककार की असावधानता से अस्वाभाविक सी हो गई हैं। इसी लिये पात्रों में साधारण और विशेष का खयाल भी नहीं रह गया है।

परन्तु सब जगह ऐसा नहीं है। लेखक की दार्शनिकता का प्रभाव उसके नाटकों पर इतना अधिक पड़ा है कि प्रायः सब पात्र ही कणाद और व्यास की कोटि में आ गये हैं। इसी लिए हास्य रस का परिपाक ठीक ठीक से नहीं हो सका अपितु यूँ कहना चाहिये कि उनके नाटकों में हास्य रस का एक दम अभाव है। जो दो एक जगह हास्यरस को प्रस्फुटित करने की चेष्टा की गई है, वह नवीनता से शून्य प्राचीन संस्कृत नाटकों की छाया है। इसके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से भी नाटककार के प्रायः सभी पात्र एक से देख पड़ते हैं। मेरा आशय यह नहीं कि सभी पात्र

भिन्न भिन्न भाषायें बोलते, परन्तु साधारण और विशेष के विचार से पात्रों की भाषा का सरल और गम्भीर होना आवश्यक था। कई लोग मानते हैं कि प्रसाद जी की भाषा बहुत गम्भीर और साहित्यिक है। इनके कुछ पात्रों में ऐसी विशेषतायें हैं जिनका अध्ययन करके चकित होना पड़ता है ।

जैसे चन्द्रगुप्त नाटक की कल्याणि,ऐसा ऊँचा चरित्र शायद ही कहीं मिल सके, और भी कई ऐसे चरित्र हैं, जो नाटककार की उत्कृष्ट मनोवृत्ति के परिचायक हैं । इनके नाटकों में प्राय: दुश्चरित्र पात्रों को ऊपर उठने का भी मौका मिला है। पात्रों के इन आकस्मिक परिवर्तनों में नाटककार की हृदय भावना भी उठती हुई दीख पड़ती है। जिस जगह स्वाभिमान अथवा महत्वा-कांक्षाओं के कारण उद्धत पात्र अपनी दुष्टता छोड़ कर ऊँचा उठता है। उस जगह ऐसा प्रतीत होता है मानो नाटककार स्वर्ग का सृजन कर रहा हो। परन्तु स्वभावत: दुष्टपात्र जहाँ अपनी क्षमतासे परे पहुँच गये हैं वे स्थल बहुत अस्वाभाविक होगये हैं। नागयज्ञकी दामिनी उत्तंक के केवल थोड़े से उपदेश से ही अपनी स्वाभाविक दुष्टता छोड़ देती है। चोर अपने को धिक्कारने लगता है। इसी तरह लम्पट अश्व से मणिमाला की बातचीत सुनकर पवित्र और मानव पुंगव हो उठता है। यह स्थान भी बड़ा अस्वाभाविक हो गया है। नाटककार ने यथा सम्भव परम्परा से चली आई नाटकीय रूढ़ियों का भी परित्याग किया है । जैसे स्वगत, आकाश-वाणी आदि ।

कथोपकथन प्राय: स्वाभाविक ही हैं । हाँ, उनके लम्बे लम्बे भाषण कभी कभी जी उबा देते हैं।

अभिनय की दृष्टि से प्रसादजी के नाटक अनुपयुक्त हैं। परन्तु यह दोष तो शेक्सपियर जैसे नाटककारों में भी पाया जाता है। मेरा विचार है कि अभिनय के समय पर ही उनको तोड़ मरोड़ कर अभिनयोपयोगी बना लेना चाहिये। इस प्रकार के नाटक निर्माण में नाटकोपयोगिता होते हुए भी पढ़ने में उनका कुछ महत्व नहीं रह जाता है। एक तरह से प्रसादजी के नाटक जिस दिशा की ओर संकेत करते हैं। उस दृष्टि से वे सर्वथा उपयोगी सफल और सर्वाङ्गपूर्ण हैं।

आधुनिक नाटककार

लेखक-चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

हिन्दी के कतिपय आधुनिक नाटककारों का परिचय इस प्रकार है–

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र––आपने महात्मा ईसा नामक नाटक लिखा है। जो बहुत सफलता पूर्वक खेला जा सकता है। इनके पात्रों का चरित्र चित्रण बहुत ही स्वाभाविक है। इस नाटक में साधारण पात्रों के अतिरिक्त राक्षस, देवता आदि सभी हैं। यदि शान्ति देवी है तो हेरोदिया राक्षसी। प्राय: सभी रसों का समावेश इनके इस नाटक में पाया जाता है। कहीं कहीं अस्वाभाविकता भी मालूम होती है, पर ऐसे स्थल कम ही हैं। आपने कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं। अफ़ज़लवध नाम का एकांकी नाटक पाठकों ने बहुत पसन्द किया है। आजकल आपके सिनेमा कम्पनी में चले जाने से आपकी कोई भी साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं आई।

पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी––चतुर्वेदी जी ने साहित्य के प्राय: सभी अङ्गों पर लिखा है और बहुत सुन्दर

लिखा है, परन्तु दुर्भाग्य से आपने नाटक केवल एक ही लिखा है। जो उनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिए पर्याप्त है। इसका अभिनय जबलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हुआ था। इस नाटक का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसके पात्रों का चित्रण बहुत ही स्वाभाविक और मनोरञ्जक है। हास्य-रस भी बहुत शिष्ट और मधुर है।

पण्डित बद्रीनाथ भट्ट—भट्ट जी ने वेन चरित्र, तुलसीदास, चन्द्रगुप्त, दुर्गावती आदि अनेक नाटक लिखे हैं, कुछ प्रहसन भी। दुर्गावती इनका सब से सुन्दर नाटक कहा जाता है। दुर्गावती गढ़मण्डले की रानी थी, इसने मुगल सम्राट अकबर से लड़कर अपनी आहुति दे डाली, स्थान स्थान पर हास्य का परिपाक भी अच्छा हुआ है। कई जगह हास्य अनावश्यक और भद्दा भी मालूम होता है। दृश्यों का निर्माण अभिनयोपयोगी है। भाषा बहुत सरल और व्यावहारिक है।

पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त—आपने वरमाला, राजमुकुट नाम के दो नाटक लिखे हैं। जो अनेक स्थानों में सफलता पूर्वक खेले जा चुके हैं। कहा जाता है कि वरमाला का अनुवाद गुजराती, तेलगू में भी हो चुका है, इस नाटक में केवल पाँच-छै पात्र हैं। द्वितीय दृश्य में कुछ मूक अभिनय की योजना भी की गई है। राजमुकुट नाटक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से लिखा गया है। इसमें मेवाड़ की वीराङ्गना पन्नाबाई का कथानक है।

बाबू मैथिली शरण गुप्त--गुप्त जी ने चन्द्रहास के अतिरिक्त यशोधरा में भी नाटकत्व दिखलाया है। आपका चन्द्रहास बहुत सुन्दर नाटक है। इस नाटक में उनके कवित्व का अच्छा प्रयास मिलता है। हमारा विश्वास है कि गुप्त जी को नाटक लिखने में खूब अच्छी सफलता मिल सकती है।

श्री प्रेमचन्द्र जी—इन्होंने भी दो एक नाटक लिखे हैं, परन्तु आपको जितना यश अपनी कहानियों और उपन्यासों से प्राप्त हुआ उतना नाटकों द्वारा नहीं।

आपके कर्बला और प्रेम की वेदी, नामक दो नाटक हैं। परन्तु दोनों ही अस्वाभाविक और साधारण हैं।

लक्ष्मी नारायण मिश्र----मिश्र जी ने अशोक, संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, आधीरात, आदि नाटक लिखे हैं। अशोक को छोड़कर इनके नाटक यथार्थवाद और जीवन की समस्याओंकी ओर संकेत करते हैं। इन्होंने योरोप के वर्तमान नाटककारों से और वैसे ही विचारों को लेकर एक नई शैली की स्थापना की है। ये बुद्धिवादी लेखक हैं और जीवन की सभी समस्याओं को बुद्धिवाद के द्वारा सुलझाना चाहते हैं।

श्री जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द"-इन्होंने महाराणा प्रताप के ऊपर प्रताप प्रतिज्ञा नामक एक नाटक लिखा है, नाटक के प्रारम्भ में चन्द्रावत, जगमल को सिंहासन से उतार देता है। उस समय का दृश्य कुछ अस्वाभाविक सा हो जाता है। परन्तु सर्वांश में नाटक अच्छा है। कई जगह खेला भी जा चुका है।

पण्डित उदयशंकर भट्ट----आप हिन्दी में वियोगांक नाटक शैली के प्रवर्तक हैं। इन्होंने विक्रमादित्य, दाहर, अम्बा, सगर विजय आदि नाटक लिखे हैं। इनकी शैली और चरित्र-चित्रण प्रायः अपना ही है । इन्होंने मत्स्य गन्धा नामक एक भाव नाट्य भी लिखा है। इनका दाहर नाटक सिंध के प्रसिद्ध राजा दाहर के आधार पर है। हास्य भी कहीं कहीं अच्छा ही है। अम्बा का हास्य शिष्ट और मधुर हास्य कहा जा सकता है। ये अपने नाटकों में जीवन संघर्ष को सब से ऊँचा स्थान देते हैं। अम्बा में भीष्म का चित्रण बुद्धिवाद को लक्ष्य रख कर किया गया मालूम होता है। भाषा,भाव अभिनय और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अम्बा और सगर विजय श्रेष्ठ नाटक हैं।

श्री सुदर्शन---प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन जी ने केवल एक ही नाटक लिखा है अञ्जना। एक एकांकी चन्द्र गुप्त नाटक भी लिखा है। इनमें नाटक लिखने की अच्छी प्रतिभा है और इधर सिनेमा लाइन में जाने के कारण इनका अनुभव बढ़ चढ़ गया है। खेद है कि आपने उस लायन से कोई फायदा नहीं उठाया। आपका अञ्जना नाटक सुन्दर और अभिनयोपयोगी है। इसकी कथा का आधार पौराणिक है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार----आपने केवल एक ही नाटक लिखा है, परन्तु वह एक ही नाटक उनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिये पर्याप्त है और वह है अशोक। इस समय तक अशोक नामके और भी दो एक नाटक निकले हैं। परन्तु

यह निर्विवाद कहा जा सकता है, कि यह श्रेष्ठ नाटक है। भाषा बहुत ही सरल कथोपकथन मनोरञ्जक और संक्षिप्त है। आपने दो-एक एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

[प्रो० वेद व्यास द्वारा लिखित]

श्री हरिकृष्ण प्रेमी----प्रेमी जी ने रक्षा-बन्धन और पाताल विजय नाम के दो नाटक लिखे हैं। रक्षा बन्धन अच्छा नाटक है। इस पर लेखक को मानसिंह पुरस्कार भी मिला है।

श्री कैलाशनाथ भटनागर----आपने भीम प्रतिज्ञा और कुणाल नाम के दो नाटक लिखे हैं। कुणाल अच्छा नाटक है। आशा है इस क्षेत्र में आगे भी आप अच्छा लिखने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी साहित्य को आप से बहुत कुछ आशा है।

कुछ एकांकी नाटककार

हिन्दी में इस समय कुछ एकांकी नाटक भी लिखे जा रहे हैं। एकांकी नाटक लिखना सरल और कठिन दोनों ही हैं। सरल इसलिये कि एक छोटे से कथानक को कथोपकथन द्वारा कुछ सीन देकर समाप्त किया जाता है। कठिन इसलिये कि नाटक कारको अपनी सारी शक्तिछोटे आकार में भर देनी पड़ती है। उस अवस्था में यह ध्यान रखना होता है कि नाटक में एक भी शब्द, एक भी पंक्ति, एक भी विचार, व्यर्थ का न हो। जिस प्रकार नदी की धारा का लक्ष्य एक ही ओर जाना होता है। उसी प्रकार नाटककार भी जिस बात को लक्ष्य में रख कर उसने

नाटक लिखा है, बड़ी तीव्र गति से उसी ओर चलता जाता है। यदि वह अंकी नाटक मनुष्य के चलने के समान हैं, जिसमें कि वह चलते हुए सब ओर बाजार, नदी, पर्वत आदि दृश्यों को देखता है, तो एकांकी नाटक दौड़ने के समान कहना पड़ेगा। जिसमें दौड़ने वाले का ध्यान शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य की ओर पहुँचना होता है। इस समय जिन लोगों ने एकांकी नाटक लिखे हैं। उनमें श्री रामकुमार वर्मा का ऊँचा स्थान है। आपने पृथ्वीराज की आँखें नामक एक एकांकी नाटकों का संग्रह भी प्रकाशित किया है। इसी तरह श्री रमाशंकर शुक्ल हृदय, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री उदय शंकर भट्ट। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री उपेन्द्र नाथ अश्क, श्री सियाराम शरण गुप्त, श्री जनार्दन राय। श्री धनीराम प्रेम आदि नाटककारों का नाम लिया जा सकता है।

हिन्दी और अनुवाद नाटक

लेखक—डा० लक्ष्मण स्वरूप एम० ए० पी० एच० डी०

बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात हुआ है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओजस्विनी लेखनी का प्रभाव केवल बङ्गाल पर ही नहीं है, किन्तु सारे भारतवर्ष पर है। उर्दू कविता भी अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन कर रही है। फारसी आदर्शों का अनुकरण अब छूटता जाता है। सर मुहम्मद इक़बाल की कविता ने इसकी पुरानी हड्डियों में नए जीवन का सञ्चार कर दिया है। हिन्दी में भी खड़ी बोली का सम्प्रदाय खड़ा हो गया है। इस मत के अनुयायिओं की दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। महाशय मैथिलीशरण गुप्त के काव्य इस मत की प्रतिष्ठा हैं। महाशय प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थता का आभास दृष्टिगोचर होता है। नए युग का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ, परन्तु निश्चयरूप से कहा जा सकता है कि सूत्रपात हो चुका है। इस सूत्रपात के असन्दिग्ध चिह्न स्थान-स्थान पर दिखाई देते हैं। एक लेख में—जो मोडर्न रिव्यु, मार्च सन् १९२३ में प्रकाशित हुया था—मैंने बतलाया था कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस देश के साहित्य में एक

नए युग का सूत्रपात हुआ था। उस समय अद्भुतप्रिय प्रवृत्ति (Romanticism) का खूब प्रचार हुआ। इस प्रवृत्ति से फ्रांस देश के साहित्य में विशेष गौरव, ओज, प्रसाद, और माधुर्य्य इत्यादि गुणों का समावेश हुआ। अँगरेज़ी और जर्मन भाषा के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों और नाटककारों के काव्य-नाटकों का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया गया। शेक्सपियर, स्कोट, बाइरन यंग, ग्रे, शिल्लर, ग्योथ इत्यादि सुलेखकों का अध्ययन फ्रांसीसी जनता के लिए सुलभ बनाया गया। अँगरेज़ी और जर्मन कवियों के विचारों का फ्रांस में बहुत प्रभाव पड़ा। इन विचारों से साहित्य की समकालीन प्रवृत्ति की पुष्टि हुई। संस्कृत कवियों की रचनाओं का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ। इन अनुवादों का विशेष कर कवि श्लेगल के अनुवादों का जर्मन साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव से उनके साहित्य की वृद्धि हुई। जर्मनी देश के सुप्रसिद्ध महाकवि ग्योथ ने शकुन्तला का अनुवाद सन् १८६२ में पढ़ा था। अनुवाद मात्र के पढ़ने से उनके हृदय पर गहरा असर हुआ। उनके परम प्रसिद्ध 'फौस्ट' नामी काव्य की प्रस्तावना शकुन्तला की प्रस्तावना के आदर्श पर लिखी गई है। शकुन्तला का प्रभाव चिर-काल तक उनके हृदय पर रहा। ३८ वर्ष के पश्चात् सन् १८३० में जर्मनी देश की जगद्विख्यात वाईमार (Weimar) रङ्गशाला में वे शकुन्तला का प्रयोग करवाना चाहते थे। कहने का तात्पर्य यह कि संस्कृत कवियों की रचनाओं का अनुवाद जर्मन साहित्य की अद्भुतप्रिय प्रवृत्ति का पोषक तथा वृद्धि का हेतु बना। आधुनिक हिन्दी-लेखकों का आदर्श संस्कृत साहित्य है। यही महोदधि

है जिसमें गोते लगा लगा कर वे साहित्यरत्न निकालते हैं। रचना-रीति के विषय में जो हिन्दीपुस्तकें लिखी गई हैं वे संस्कृत अलङ्कार-पुस्तकों के आधार पर हैं। रस, भाव, विभाव, अनुभाव, गुण, दोष, अलङ्कार इत्यादि सब संस्कृत से लिए गए हैं। इसी लिए संस्कृत साहित्य की त्रुटियाँ भी हिन्दी में आ गई हैं;—जैसे शोकान्त नाटकों का अभाव, प्रहास की मात्रा की कमी, पात्रों का आदर्शरूप तथा व्यक्तित्व का अभाव, जातियों, श्रेणियों, व्यक्तिओं के शील, आचार, व्यवहार के आधार पर नाटक रचना की न्यूनता इत्यादि मेरा विचार है कि योरुप के प्रसिद्ध कवियों तथा नाटक-कारों की रचनाओं एवं विचारों के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। इसकी वृद्धि होगी। साहित्यकी आधुनिक प्रवृत्ति की पुष्टि होगी। जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनको दूर करने में सहायता मिलेगी। इस लिए हमें इँगलेंड; फ्रांस, जर्मनी, नारवे और रूस देश के परम प्रसिद्ध नाटककार ब्रियो, बरनार्डशा, ग्योथ, शिलर, इबसन स्टरिन्डनबर्ग, चेकोव, शेक्सपीयर इत्यादि के जगत् प्रसिद्ध ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करना चाहिये।

हिन्दी जीवन-चरित्रों में प्रायः घटनाओं की सूची सी दे दी जाती है। पुरुष को ऐसे दिखलाया जाता है जैसे वह दैव और परिस्थिति के हाथ में निश्चेष्ट गतिहीन खिलौना हो। चरित्र-नायक के उद्योग, साहस, कर्मपरायणता का बहुत कम वर्णन होता है। नायक के विचारों और भावों को प्रकट नहीं किया जाता। उसकी विशेषता का, उसके व्यक्तित्व का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जीवन-चरित्र को पढ़कर भी हम नायक के स्वरूप को नहीं जानते।

यदि मार्ग में कहीं उससे भेंट हो जाय तो हम उसे पहचानने में असमर्थ रहेंगे। वास्तव में हमें यह प्रयत्न करना चाहिये कि नायक ने किस प्रकार साहस पुरुषार्थ और रात-दिन के परिश्रम से प्रबल विपत्तियों तथा दैव की दुर्गति पर विजय पाई। नायक की विशेषता, उसके व्यक्तित्व का परिचय देने का उद्योग किया जाना चाहिए।

आजकल हिन्दी के बहुत से शब्दों के दो रूप प्रचलित हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक दोनों रूपों का प्रयोग करते हैं; जैसे मुनिओं—मुनियों; शत्रुओं—शत्रुवों; दीजिए—दीजिये इत्यादि। यह तो स्पष्ट है कि दोनों ही रूप शुद्ध नहीं हो सकते। मेरे विचार में इन शब्दों के रूपों में समानता करने का अब समय आ गया है। जब मैं आक्सफोर्ड में था तब लन्दन के विदेशी कार्यालय (Foreign Office) के अधीन एक समाचार-सचिव (Minister of Information) नियत हुआ। इस सचिव की अध्यक्षता में कुछ सचित्र पत्र छपा करते थे। इन पत्रों का हिन्दी-कार्य मुझे सौंपा गया। उस समय प्रोफेसर ब्लूमहार्डट की अध्यक्षता में वैयाकरणों की एक छोटी सी कमेटी बैठी। उसने निश्चय किया कि इन शब्दों के दूसरे रूप में अन्तिम व्यञ्जन अशुद्ध है। मैं इस कमेटी का सभासद था। मेरा भी यही मत है। मेरी राय है कि अन्य साहित्य के समान अनुवादित नाटकों में भी हमें एक ही रूप का प्रयोग करना चाहिए। मैं मुनियों, शत्रुवों, दीजिये इत्यादि रूपों को शुद्ध नहीं मानता। पंजाब टेक्स्ट बुक कमेटी भी इस विचार से सहमत है। इस कमेटी की

अध्यक्षता में जो पुस्तकें रची जाती हैं उनमें ऊपर लिखे हुए, अशुद्ध माने हुए, रूपों का प्रयोग नहीं होता।

हिन्दी भाषा में जहाँ-तहाँ उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में भी मेरी राय में कोई हानि नहीं है। हिन्दी के सुकुमार प्रेमी उर्दू शब्दों के प्रयोग को बुरा समझते हैं, किन्तु इस प्रयोग के दो कारण हैं। १—यह शब्द स्थान-संगत है। हिन्दी में ठीक उसी अर्थ के वाचक शब्दों का अभाव होने से नए संस्कृत शब्द गढ़ने पड़ते। नए शब्दों के गढ़ने की अपेक्षा प्रयुक्त उर्दू शब्दों को अपनाना अच्छा है। नए गढ़े हुए शब्द सर्व-साधारण की समझ में नहीं आएँगे। संस्कृत तत्सम शब्दों की बहुलता से हिन्दी की उन्नति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। उर्दू इत्यादिक शब्दों के अपनाने से हिन्दी में सरलता और यथार्थता की झलक दिखाई देगी। जिस प्रकार अनेक नदी-नाले गंगा की धारा में मिलकर अपना नाम और रूप मिटा देते हैं, वे गंगा में लीन होकर गंगा ही बन जाते हैं, उसी प्रकार उर्दू, फारसी, अँगरेज़ी शब्द हिन्दी के प्रवाह में मिलकर अपनी हस्ती मिटा देते हैं। वे अपना नाम और रूप खो देते हैं। वे हिन्दी में लीन होकर हिन्दी ही बन जाते हैं। ऐसे शब्दों को उर्दू इत्यादि समझना सर्वथा भूल है। आधुनिक अँगरेजी बहुत ही कोमल, कुंचनीय और समृद्ध है। इस समृद्धि का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न उद्गमस्थान—ग्रीक, लेटिन, ऐंगलो-सेक्सिन और फ्रैंच—अँगरेजी की वृद्धि का साधन बने हैं। ग्रीक और लेटिन शब्द अब अँगरेजी का अंग बन गए हैं। उनको ग्रीक और लेटिन समझना नादानी है। हिन्दी

अभी समृद्धि के शिखर पर नहीं पहुँची । भावों की कोमलता तथा सूक्ष्मता का सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण प्रकाश करने में हिन्दी अभी असमर्थ है। ऐसी अवस्था में उर्दू, फारसी इत्यादि युक्त शब्दों को अपनाने में हमें तनिक भी सङ्कोच नहीं होना चाहिए। अपनाए हुए शब्द हिन्दी का अंग बनते हैं। हिन्दी का रूप धारण कर हिंदी से पृथक् नहीं रहते।

अनुवादक को अपनी ओर से कुछ भी काट-छाँट, जोड़-तोड़ नहीं करनी चाहिए। नाटक मूल लेखक का होता है, अनुवादक का नहीं। इससे अनुवादक को एक अक्षर भी न्यून या अधिक करने का अधिकार नहीं है।

हाँ, भारतीय परिस्थितियों के अनुसार किसी विदेशी प्रथा को समझाने के लिए यदि किसी तरह का अन्तर करने की आवश्यकता हो, तो उस तरह का परिवर्तन करने में कोई बुराई नहीं। फिर भी अनुवाद अनुवाद ही रहता है। वह मूल पुस्तक का स्थान कदापि नहीं ले सकता। तथापि प्रयत्न तो यही करना चाहिए कि अनुवाद अक्षरशः मूल के अनुसार होते हुए भी स्वतन्त्र रचना के समान रुचिर हो।

अन्त में मैं अपनी छोटी किन्तु दृढ़ आवाज को एक अनुचित प्रवृत्ति के विरोध में उठाए बिना नहीं रह सकता। संस्कृत साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि बहुत से छोटे-मोटे कवियों ने अपनी क्षुद्र रचनाओं को महाकवियों के नाम पर मढ़ दिया है। महाभारत का बृहद् आकार, कालिदास के नाम पर बहुत से ग्रन्थों का जोड़ा जाना कूट लेखकों की कुचेष्टाओं का

सारगर्भित प्रमाण है। महात्मा तुलसीदास जी का 'रामचरित-मानस' भी आक्षेपों से न बच सका। इस साहित्य रूपी वर्णसंकर की अब तक भारतीय कविताओं तक ही इयत्ता थी। पर अब इस कुप्रथा का प्रचार योरुपीय कविओं के सम्बन्ध में भी होने लगा है। अपनी काली रचना को गोरी रचनाओं के साथ मिलाने की चाह से प्रेरित होकर ही ऐसा किया गया है। उदाहरणार्थ लखनऊ की गंगा पुस्तकमाला ने 'रावबहादुर' नाम का एक 'प्रहसन' प्रकाशित किया है। इस प्रहसन को मोलिएर के नाटक का अनुवाद बतलाया जाता है। वास्तव में यह 'प्रहसन' मोलिएर की इतनी ही कृति है जितनी कालिदास या भवभूति की। 'प्रहसन' की वस्तु नाटक की वस्तु से भिन्न है। प्रहसन के दृश्य नाटक के दृश्यों से भिन्न हैं। दृश्यों की संख्या भी भिन्न भिन्न है। पात्रों के नाम, गुण, कर्म, स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। नाटक की घटनाएँ 'प्रहसन' में नहीं पाई जातीं। पात्रों का पारस्परिक संलाप मोलिएर के संलाप से तनिक भी नहीं मिलता। मोलिएर के वाक्य, मोलिएर के भाव, मोलिएर के विचार, मोलिएर के प्रहास 'प्रहसन' को छू तक नहीं गए। इस प्रहसन में मोलिएर का एक भी अक्षर नहीं है। 'प्रहसन' के लेखक फ्रांसीसी भाषा से तो भला कोरे ही होंगे पर अँगरेजी से भी निरे कोरे ही प्रतीत होते हैं। यदि उन्होंने इस नाटक का अँगरेजी अनुवाद भी देखा होता तो भी इस 'प्रहसन' को मोलिएर की कृति बतलाने का साहस न करते। बीसवीं शताब्दी में 'राव बहादुर' जैसी क्षुद्र रचना को मोलिएर की कृति बताना बड़े साहस का काम है।

भारतीय जनता साहित्य सम्बन्धी कार्यों में शंका रहित होकर झट विश्वास कर लेती है। हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-माला के सम्पादक महाशय नाथूराम प्रेमी 'राव बहादुर' के विषय में मुझे लिखते हैं 'अनुवाद बहुत रुचिर हुआ है।' प्रेमी जी नहीं जानते कि यह मोलिएर का अनुवाद नहीं है, 'प्रहसन' लेखक के अपने ही विचारों का आभास है। 'राव बहादुर' एक स्वतन्त्र रचना है। यह मोलिएर की कृति नहीं। जहाँ मुझे 'प्रहसन'-लेखक के साहस पर अचम्भा हुआ वहाँ भारतीय जनता की श्रद्धालुता पर खेद भी हुआ। अब समय आ गया है कि कपटी लेखकों की कुचेष्टाओं को बन्द किया जाय। इस अनर्थ को जड़ से उखाड़ा जाय। कम से कम मैं अपनी छोटी पर दृढ़ आवाज़ को इस कुप्रथा के घोर विरोध में उठाता हूँ। आशा है हिन्दी प्रेमी इस प्रवृत्ति को बढ़ने से रोकेंगे।

पश्चिमी भारत की नाटक-कला

प्रो० वेदव्यास एम० ए०

बँगला नाटक से भेद–हमने इससे पूर्व बँगला नाटक के विकास का संक्षेप वर्णन किया है। बङ्गला नाटक अल्पवयस्क है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने इस थोड़े से समय में अद्‌भुत उन्नति की है। पाश्चात्य भारत में आधुनिक नाटक-कला के विकास की कहानी बङ्गला नाटक से बहुत ही विभिन्न है। बंगालमें हिन्दू शिक्षित समाज की एक निश्चित और उन्नत संस्कृति थी और यही बंगाल के साहित्यिक जीवन में सर्वथा प्रधान थी। भाषा भी सुनिश्चित और विकसित थी। पश्चिम भारत का केन्द्र बम्बई एक सार्वभौम (Cosmopobtan) नगर है। बम्बई में किसी एक भाषा का प्राधान्य नहीं, हिन्दुस्तानी, गुजराती, मराठी सब प्रचलित हैं और इस लिए नाटक-कला के लिये कोई एक निश्चित माध्यम नहीं है। इसी प्रदेश में पारसियों का केन्द्र है। पारसियों की सभ्यता का आधार फ़ारस की संस्कृति है जिस पर भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ प्रभाव पड़ चुका है। पारसी

लोग पाश्चात्य आदर्शों को अपनाने में भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वे रङ्गमञ्च को व्यापारिक दृष्टि से देखते हैं और व्यापारिक दृष्टि से नाटक-कला का बहुत उच्च कोटि पर पहुँचना आवश्यक नहीं। बम्बई में कलकत्ता की भान्ति बहुत बड़े धनाढ्य जमीदार नहीं जो नाटक-कला की खातिर लाखों रुपये खर्च कर दें। शायद यही कारण है कि बम्बई में नाटक-कला को बङ्गाल की सी सफलता नहीं हुई। पश्चिम भारत में ऐसे नाटक नहीं लिखे गये जो न केवल रङ्गमञ्च पर लोकप्रिय और सफल हों बल्कि साहित्य और कला की दृष्टि से भी अत्युत्तम हों। गिरीशचन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कक्षा के नाटककार पश्चिमी भारत में पैदा नहीं हुए।

पश्चिमी भारत में सुविधाएँ--इसके विपरीत पश्चिमी भारत में नाटक-कला को कई सुविधाएँ प्राप्त थीं। पश्चिमी भारत के समाज में स्त्री जाति की स्थिति बङ्गाल से बहुत अच्छी थी। यही कारण है कि यहां नाटक-कला के विकास में भारतीय स्त्रियों ने काफ़ी भाग लिया है। पश्चिमी भारत की नाटक-मंडलियाँ अपने व्यापारिक उद्देश्य से और हिन्दुस्तानी भाषा के प्रयोग के कारण उत्तरी भारत के सब प्रान्तों में चक्कर लगाती रही हैं और इन सब स्थानों पर उनके द्वारा नाटक-कला के प्रति उत्साह बना रहा है।

विष्णुपन्थ भवे—सन् १८५० में कर्नाटक देश के कुछ एक्टर बम्बई प्रदेश में अपने देशी नाटकों का अभिनय करने के लिए

आए। सांगली के राजा उनके नाट्य को देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने एक सुयोग्य मुनशी विष्णुपन्थ भवे को आदेश किया कि वह इन एक्टरों का पदानुसरण करे और एक नाट्य-मण्डली बनाए, जिनमें मराठी नाटक करनाटकी संगीत के साथ खेले जाएँ। भवे ने स्वयं कई नाटकों की रचना की, जिनमें अधिकतर शृङ्गार और करुणारस प्रधान थे। राजा सांगली की मृत्यु के बाद भवे की नाटक-मण्डली ने व्यापारिक रूप धारण किया और बहुत से भारतीय नगरों में अपने नाटकों का अभिनय किया।

ऐतिहासिक नाटक—सन् १८६० के लगभग मराठी में ऐतिहासिक नाटकों की रचना आरम्भ हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में मराठी संघ एक ज़बरदस्त शक्ति थी। इस लिये महाराष्ट्र में स्वदेश भक्ति की लहर भी प्रबल थी। ऐतिहासिक नाटक स्वाभावतः बहुत लोकप्रिय हुए। बाजीराओ, शिवाजी, प्रताप आदि ऐतिहासिक नाटक वीर-रस परिपूर्ण हैं।

ऐतिहासिक नाटकों के साथ ही साथ सामाजिक नाटक भी रचे गए, जिन में आधुनिक भारतीय समाज के दोषों के चित्र थे। मराठी का पहला सामाजिक नाटक 'शारदा' था। बाद के नाटककारों वाररेकर आदि पर इब्सन (Ibsen) शा (Shaw) का बहुत प्रभाव पड़ा है। सामाजिक दुःखान्त नाटक भी मराठी में लोक प्रिय हैं। बँगला नाटक से उतर कर

आज भारत में मराठी नाटक का स्थान है। बंगाल की भाँति महाराष्ट्र की प्रतिभा ने भी पाश्चात्य नाटक कला के कई अच्छे भावों को ग्रहण किया है। बँगला नाटक के समान मराठी नाटक में भी स्वदेशी संगीत लोकप्रिय रहे हैं।

पारसी और गुजराती नाटक-भवे नाटक मण्डली की सफलता को देख कर पारसी जनता में भी नाट्यकला के लिये उत्साह पैदा हुआ। बहुत शीघ्र ही पारसी और गुजराती नाटक मण्डलियाँ व्यापारिक रूप में एक दूसरे के मुकाबले में उन्नति करने लगीं। रंगमञ्च को सुन्दर बनाने के लिये कला की सर्वथा परवाह न कर अनेक विधान किये गए, जिन पर बहुत रुपया ख़र्च किया गया।

पारसी नाटक कला के लिये कोई विशेष माध्यम नहीं था। उनके दर्शक अधिकतर गुजराती और हिन्दुस्तानी जानने वाले थे। इस लिये साहित्य की दृष्टि से उन्हें बहुत सफलता नहीं हुई। परन्तु पारसी लोग रंग मञ्च की कला में सिद्धहस्त हैं। वे थियेटर के लिये सुन्दरता सैटिंग बनाने के लिये लाखों रुपये ख़र्च कर सकते हैं। भारतीय इतिहास, पुराणों और वीर काव्यों से फारसी इतिहास और साहित्य से, युरोपीय उपन्यासों और नाटकों से, आधुनिक सामाजिक समस्याओं से-उन्होंने अनेक प्रकार के विविध नाट्य कथा वस्तु प्राप्त किये और सारे भारत-वर्ष में नाटक कला का प्रचार किया। कई पारसी ऐक्टर विलायत गए ताकि वहाँ की नाट्य-प्रणाली का अध्ययन कर सकें।

रणछोड़दास उदयराम—आधुनिक गुजराती नाटक का प्रवर्तक रणछोड़ भाई उदयराम है। उसने संस्कृत के कई नाटकों का गुजराती में अनुवाद किया। उसका हरिश्चन्द्र नाटक बहुत लोक प्रिय हुआ, और उसका 'ललिता दुःख दर्शक' गुजराती का पहला सामाजिक दुःखान्त नाटक है। इसके बाद गुजराती में कई अच्छी नाटक मण्डलियों का उदय हुआ। दुःख का विषय है कि बहुत से गुजराती नाटक जो सफलता से खेले जाते हैं, प्रकाशित नहीं होते।

आधुनिक भारतीय रंगमंच

प्रो० वेदव्यास एम० ए०

प्राचीन भारत में रङ्ग-शालाएँ—इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है कि प्राचीन भारत में रंगशालाएँ बनती थीं वा नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक अभिनय के लिये रचे जाते थे, पर संस्कृत साहित्य में ऐसे नाटकों की भी कमी नहीं जिनका अभिनय अस्वाभाविक सा जान पड़ता है। इन में पद्य की भरमार है। भारत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला अथवा प्रेक्षा-गृह के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन है। इससे मालूम होता है कि प्राचीन भारत में कई प्रकार के रंग-मञ्च हुआ करते थे।

वास्तविक एकता—आधुनिक भारत में रंग-मंच का जो विकास पिछले ८० वर्षों में हुआ है उस से विविध प्रकार के संस्कृति सम्मिश्रण का पता चलता है। अविकसित तामिल रंगमंच से ले कर उच्च कोटि के बँगला थियेटर तक भारतीय रंगमंच में अनेक भेद हैं, परन्तु इन सब भेदों में भी एक वास्तविक एकता है। हिन्दू आदर्श और विचारों की प्रधानता भारतीय इतिहास और पौराणिक साहित्य, रामायण और महाभारत ही बहुत से आधुनिक

भारतीय नाटकों का आधार हैं। हरिश्चन्द्र नाटक भारत के प्रत्येक प्रान्त में बहुत लोक प्रिय हुआ है। भारतीय संस्कृति की छाप दक्षिणी नाटकों पर भी पूरी तरह लग चुकी है।

हिन्दुस्तानी-गुजराती स्टेज—उत्तरीय भारत के आधुनिक रंग-मञ्च का वर्णन करते हुए हमें इसे तीन सुस्पष्ट भागों में विभक्त करना पड़ता है—

(१) हिन्दुस्तानी—गुजराती रंग-मञ्च।

(२) मराठी रंग-मञ्च।

(३) बँगला रंग-मञ्च।

भारतीय रंग-मञ्च में इस समय सब से अधिक लोक प्रिय और प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी-गुजराती स्टेज है जिसका केन्द्र बम्बई का विशाल नगर है।

यहाँ प्रत्येक नाटक कम्पनी का मैनेजर जो बहुधा उसका मालिक भी होता है एक कवि अथवा नाटक लेखक को अपनी सर्विस में रख लेता है। यह लेखक निश्चित वेतन पाता है और मैनेजर के आदेशानुसार लगभग छः मास में एक नाटक की रचना करता है। इस नाटक के सारे अधिकार कम्पनी की सम्पत्ति होते हैं। यदि नाटक बहुत कामयाब हो जाय तो लेखक को कुछ बोनस भी मिल जाता है। इस कवि या लेखक को नाट्य कम्पनी के सम्बन्ध में कई प्रकार के छोटे मोटे काम भी करने पड़ते हैं—दृश्यों की जोड़ तोड़, गाने तय्यार करना इत्यादि। मैनेजर और लेखक समाज की रुचि और फ़ैशनों का निरन्तर अध्ययन करते

रहते हैं। मुकाबिले की नाट्य कम्पनियों के किसी सफल नाटक की नकल उतारना इन के बाएँ हाथ का काम है और यह काम बहुत चतुराई से किया जाता है।

स्त्रियों का भाग—इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय स्टेज पर स्त्रियाँ बहुधा भाग लेती थीं, परन्तु मुस्लिम विजय के बाद यह प्रथा बन्द हो गई। इस का एक कारण तो परदे का रिवाज था। स्त्री जाति का गौरव भी मध्य काल में बहुत कम हो चुका था। इस लिये देशी नाटक मंडलियाँ आरम्भ में स्त्रीपात्रों के लिये नर्तकियों और वेश्याओं की सहायता लेने पर विवश थीं, परन्तु पाश्चात्य संसर्ग का प्रभाव पड़ना आवश्यक था जब सुयोग्य पारसी ऐक्टर बलीवाला योरुप यात्रा के बाद भारत में लौटा तो उसने यह साहस किया कि बम्बई की स्टेज पर कुछ स्त्री पात्र भी प्रवेश करें। इस के बाद गोहर, मेरी फ़ैन्टन (Mary Fenton) और मुन्नी बाई आदि ने इस क्षेत्र में बहुत यश प्राप्त किया।

बाल ऐक्टर—एलिज़िबेथ युग की बाय (Boy) कम्पनियों की भान्ति भारत में भी बहुत सी नाटक कम्पनियाँ सुन्दर और अच्छे गाने वाले बालक अपने पास रख लेती हैं। वे बाल ऐक्टर लड़कियों के वेश में संगीत के लिये काम करते हैं और इन्हीं में से सुयोग्य बालक आगे चलकर स्टार (Star) की पदवी को प्राप्त होते हैं। इन बाल ऐक्टरों को गाने और नाचने की अच्छी शिक्षा दी जाती है।

टाकीज़ (Talkis)—जब से टाकीज़ का प्रचार अधिक हुआ है, नाटक-मंडलियों की लोक प्रियता बहुत कम हो गई है। अब तो नाट्यकला के केन्द्र अधिकतर टाकीज़ के स्टूडियो ही हैं और स्क्रीन पर बोलती फ़िल्मों द्वारा ही यह कला दर्शकों के सामने आती है।

जहाँ पहले पहल इन नाटक मण्डलियों में चमकीली, भड़कीली पोशाकों के लिये रुचि थी, वहाँ अब स्टेज पर ठीक प्रकार की वेश-भूषा के लिए रुचि है। परन्तु अब भी दृश्यों को अतीव सुन्दर बनाने के लिये बहुत रुपया खर्च किया जाता है।

महाराष्ट्र स्टेज़—महाराष्ट्र में नाटक लेखकों का आदर अधिक है। साहित्यिक क्षेत्र में कोल्हाटकर और खांडेकर आदि लेखकों को गौरवमय स्थान प्राप्त है। इन्होंने अपने नाटक प्रकाशित किये हैं और अच्छी कम्पनियों को उनका अभिनय करने की आज्ञा दी है। इन कम्पनियों से वे रायल्टी (Roylty) पाते हैं। हिन्दुस्तानी-गुजराती नाटक कम्पनियाँ अपने नाटकों को गुप्त रखती हैं और बहुत कम प्रकाशित करती हैं। मराठी नाटक मंडलियाँ अपने लेखकों को आदर की दृष्टि से देखती हैं और उनके रचे हुए नाटकों को साहित्य का अंग समझती हैं। नाटककार की आज्ञा के विना नाटक को खेलते समय किसी प्रकार की तबदीली नहीं करतीं। नाटकों में कोई व्यर्थ हास्यमय सामग्री नहीं घुसेड़ी जाती। इन्हीं कारणों से मराठी नाटक कला की दृष्टि से हिन्दुस्तानी—गुजराती नाटकों से बहुत ऊँचे दर्जे पर हैं।

महाराष्ट्र देश में प्राचीन विचारों का इतना ज़ोर है कि नाटक मण्डलियों को अभी तक एक्ट्रेसों के लाने का बहुत कम साहस हुआ है। हाँ, कई नर्तकियों ने कभी कभी अपनी नाटक मण्डलियाँ बना कर मराठी नाटकों का अभिनय किया है। उनकी मण्डली में कोई पुरुष प्रवेश नहीं कर सकता और पुरुष पात्रों का पार्ट भी स्त्रियाँ ही करती हैं।

मराठी स्टेज पर साधारण नाटक-मण्डलियों में छोटे बालकों को या बाल ऐक्टरों को बहुत कम लिया जाता है, परन्तु महाराष्ट्र में कई बाल ऐक्टरों की कम्पनियाँ हैं जिनमें सब ऐक्टरों की आयु १६ या १८ वर्ष से कम होती है और वे बड़ी सफलता से सरल हास्यमय नाटकों का अभिनय करते हैं।

मराठी स्टेज का आदर्श ऊँचा है। इसमें सुशिक्षित युवक भाग लेते हैं, जिनके हृदय में कला के लिए प्रेम है और जो स्टेज को उन्नत करने के उत्सुक हैं। गणपति राओ जोशी और बाला जोग मराठी स्टेज पर बहुत मशहूर हैं। इन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अभिनय करने में बहुत प्रसिद्धि लाभ की है।

मराठी नाट्यकला का एक बड़ा दोष यह है कि इनमें गानों की भरमार होती है और पुनरुक्ति भी बहुत होती है। इस दोष को दूर करने के लिये एक नाटक मण्डली बनी है जो केवल गद्य नाटकों का अभिनय करती है। इन नाटकों में कोई गाना नहीं होता।

बँगला रङ्गमंच—बंगाली स्टेज अधिकतर मराठी स्टेज के समान है। नाटककारोंका बहुत आदर किया जाता है। कला के लिये बहुत प्रेम है और व्यापारिक लाभ के लिये कला की हत्या नहीं की जाती, सुशिक्षित लोग नाट्यकला में भाग लेते हैं। गत ५० वर्षों में कई प्रसिद्ध ऐक्ट्रेसों ने भी बँगला स्टेज को सुशोभित किया है। सुकुमारी दत्त, तारा सुन्दरी आदि ने इस क्षेत्र में बहुत यश प्राप्त किया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत समय तक ऐक्ट्रेसों में नर्तकियाँ और वेश्याएँ ही थीं। बँगला थियेटरों में पात्रों का सब पार्ट स्त्रियाँ ही करती हैं। बालकों के पार्ट करने के लिये बहुधा युवतियों को इस्तेमाल किया जाता है। बंगाली थियेटर में संगीत बहुत लोक प्रिय हैं। यहाँ जातीय नाट्य कला का संरक्षण किया गया है और साथ ही विदेशी नाट्यकला से भी पूरा लाभ उठाया गया है।
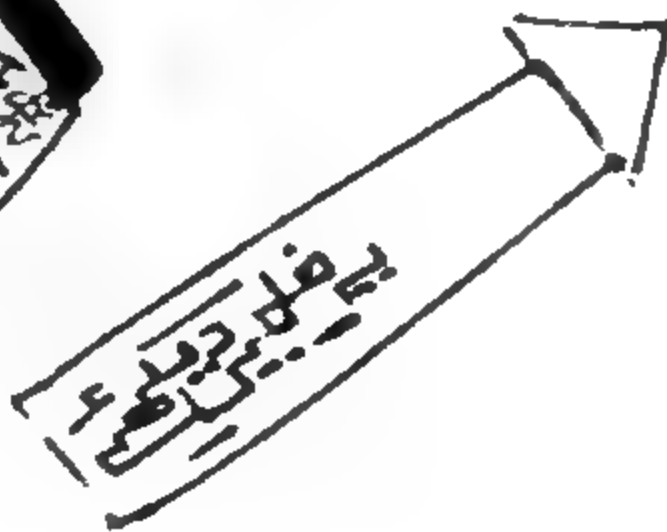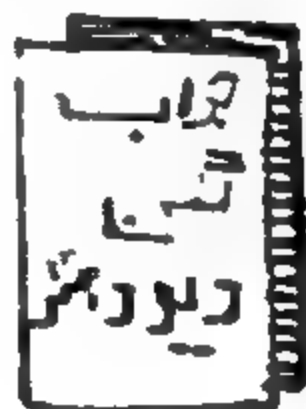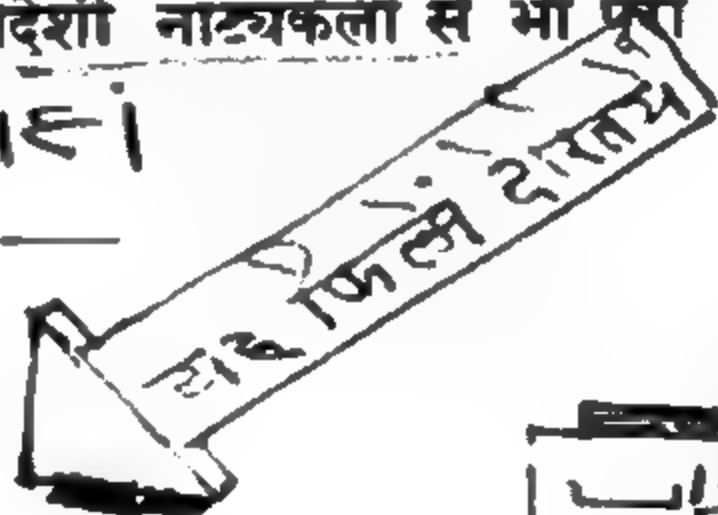
रस-सिद्धान्त

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय

रस-निर्देश

रस शब्द अनेकार्थक है, व्युत्पत्ति इसकी 'रस्यते इति रसः' है, जिसका अर्थ यह है कि जो चखा जावे अथवा जिसका स्वाद लिया जावे वह 'रस' है। जब हम कहते हैं, 'इनके गले में अथवा इनकी बातों में बड़ा रस है', तो उस समय इसका अर्थ मधुरता और मिठास होता है। जब राका-मयंक को देखकर हम कहने लगते हैं, 'वह रस बरस रहा है, उस समय इसका अर्थ, आँखों को तर करनेवाला कोई पदार्थ होता है, चाहे उसको सुधा कहें या और कुछ। जब आम, अंगूर खाते हैं, ईख को चूसते हैं, और उस समय यह कह उठते हैं कि इनका रस कितना अच्छा है, तब रस का अर्थ वह तरल पदार्थ होता है, जो उनमें भरा मिलता है। हरे पत्तों को निचोड़ने पर उनमें से हरे रंग का पानी की तरह का एक पदार्थ निकलता है, उसको भी रस कहा जाता है, जैसे आम अथवा सुदर्शन के पत्ते का रस। खट्टा, मीठा, खारा, कड़ुआ, तीखा, कसैला,—इन प्रसिद्ध छः

रसों को कौन नहीं जानता ? ये भी अपनी अलग सत्ता रखते हैं। वैद्यक के रस भी विशेष अर्थ के द्योतक हैं, कभी उनका प्रयोग एक शरीर संबंधी धातु के विषय में होता है, कभी रसायनिक रीति से तैयार हुई कुछ औषधों के लिये। जब रहीमखाँ खानखाना के इस दोहे को पढ़ते हैं—

'कहु रहीम कैसे निभे केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग ॥'

तो ज्ञात होता है कि रस का अर्थ उमंग और मौज भी है। वेद में परमात्मा को रस कहा गया है, जैसे 'रसो वै सः'। जल को भी रस कहते हैं, इस तरह रस का प्रयोग बहुत अर्थों में देखा जाता है।

जैसे रस शब्द अनेकार्थक है, उसी प्रकार उसकी रसन-प्रणाली भी भिन्न-भिन्न है। कान ने जैसे मधुर बातों को सुना, आँखों ने जिस प्रकार मयंक को रस बरसते देखा, जीभ ने जिस प्रकार फूलों के अथवा खट्टे-मीठे पदार्थों के रस को चखा—उन सब का प्रकार एक नहीं, अलग-अलग है। इससे आस्वादन-प्रणाली की भिन्नता स्पष्ट है। साहित्य में जैसे रस शब्द का ग्रहण इन सबों से भिन्न दूसरे ही अर्थ में होता है, उसी प्रकार उसकी व्यापकता भी अधिक है, और उसके आस्वादन का ढंग भी विलक्षण।

रस के साधन

शब्द दो प्रकार का होता है, ध्वन्यात्मक, और वर्णात्मक। जिस समय विमुग्धकारी वंशी बजती रहती है, अथवा कोई सुकण्ठ पक्षी गान करता रहता है, उस समय भी हमारे कानों तक उनकी

लहर पहुँचती रहती हैं, परन्तु उनमें झङ्कार मात्र होता है, वर्ण-विन्यास नहीं होता। अतएव ऐसे शब्द को 'ध्वन्यात्मक' कहते हैं, क्योंकि वह ध्वनि पर ही अवलम्बित होता है। दूसरा वर्णात्मक शब्द वर्ण-विन्यास-युक्त होता है।

ध्वन्यात्मक शब्दों में कितना आकर्षण है, यह अविदित नहीं। वाद्यों का मधुर वादन, पक्षियों का कलकूजन, कमनीय कण्ठों का स्वर, कितना हृदय-विमोहक है, यह सब जानते हैं। शेख सादी कहते हैं—

'सुन्दर मुख से मधुर ध्वनि कहीं उत्तम है। वह आनन्दित करती है, और इससे प्राणों की पुष्टि होती है। बालकों के कण्ठ की कूक क्या स्वर्गीय सुधा नहीं बरसाती? मुरलीमनोहर की मुरली क्या पादप एवं लता-बेलियों तक को स्तम्भित नहीं करती थी? कविवर सूरदास जी की 'सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई' कितनी मनोहर है।

क्या नट की तुमड़ी का नाद सुनकर सर्प विमुग्ध नहीं हो जाता? क्या वधिक की वीणा पर हरिण अपना प्राण उत्सर्ग नहीं कर देता? ध्वनि अपार शक्तिमयी है, अतएव ध्वन्यात्मक शब्द भी प्रभावशालिता में कम नहीं। परन्तु वर्णात्मक शब्द उससे भी लोकोत्तर है। संसार का साहित्य, जो समस्त सभ्यताओं का जनक है, वर्णात्मक शब्दों की ही विभूति है। इसीलिये ध्वन्यात्मक से वर्णात्मक शब्दों का महत्व अधिक है।

व्यवहार में देखा जाता है कि जिसकी वाचाशक्ति जितनी बड़ी और सुसंगठित होती है, संसार में उसको उतनी ही

और ध्वनि दोनों मिल जाती हैं, वहाँ मणिकांचन योग हो जाता है, और असम्भव सम्भव होता है। भाव और विचारों को इनके द्वारा वह सहायता मिलती है कि उनकी सफलता की पराकाष्ठा हो जाती है।

बाजा कितनी ही मधुरता से क्यों न बजता हो, किन्तु उसमें वह तन्मयता नहीं होती, जितनी उस समय होती है, जब उसके साथ मधुर संगीत भी होता हो। यदि यह मधुर संगीत भावमय हो तो क्या कहना! वह तो बिल्कुल तन्मय कर देता है। ऐसा क्यों होता है?

जिस समय कोई सुन्दर बाजा बजता रहता है, अथवा कोई कलध्वनि वायु में ध्वनित होती रहती है, उस समय उसको कान आस्वादन करता है, और उसके साहचर्य से हृदय में आनन्द की एक लहर-सी उठती रहती है। आप लोगों ने व्यासासन पर से यदि किसी सुवक्ता को किसी विषय का निरूपण करते सुना होगा, अथवा किसी हाल में बैठकर किसी प्रसिद्ध वाग्मी का भाषण श्रवण किया होगा तो आप लोगों से यह छिपा न होगा कि वचन-रचना में कितनी शक्ति होती है। जनता को हँसा देना, रुला देना, उत्तेजित कर देना, उसके मन को अपनी मुट्ठी में कर उससे मनमानी करा लेना, उनके बायें हाथ का खेल होता है। किसी संत-समाज में बैठकर भजन गान होते देखा होगा, तो आप लोगों को श्रोताओं की तल्लीनता अविदित न होगी। उस समय की वहाँ की उत्सुकता और उस समय का वहाँ का भावावेश विलक्षण होता है। यह ज्ञात होता है कि चारों ओर से

अपूर्व आनन्द का समुद्र उमड़ रहा है, और उसमें लोग मग्न हो रहे हैं, हाथ-पाँव मार रहे हैं, उछल रहे हैं और जितना ही रस का पान कर रहे हैं, उत्तरोत्तर उनकी तृषा उतनी ही बढ़ती जा रही है।

कण्ठस्वर; मधुरध्वनि, और वचन-रचना के अतिरिक्त वेश-विन्यास, भावभंगी, कथन-शैली इत्यादि का प्रभाव भी हृदय पर पड़ता है। इनकी सहकारिता से वचन-रचना अपने भावों का अधिकाधिक पुष्ट कर सकती है। कर-संचालन, अंग-संचालन, अथच अंगुलि-निर्देश से अनेक अस्पष्ट भाव स्पष्ट हो जाते हैं और कितनी ही अव्यक्त बातें व्यक्त बनती हैं। नृत्त अथवा नृत्य एवं अभिनय के ढंग की अनेक कलाएँ भी यथावसर भावपुष्टि का साधन बनती रहती हैं। अतएव इनकी उपयोगिता भी अल्प नहीं। जब ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द अंग-संचालनादि अन्य साधनों और कलाओं के आधार से किसी भाव को पुष्ट करते हैं, उसकी वास्तविक पुष्टि उसी समय होती है और साहित्य के उस रस की यथार्थ उत्पत्ति भी प्रायः तभी होती है, जो सहृदय-हृदय-संवेद्य माना जाता, और जिसका सुख ब्रह्मानन्द समान कहा जाता है। इसीलिये प्रायः दृश्य काव्यों द्वारा ही साहित्यिक रस की मीमांसा की गई है क्योंकि उसमें प्रायः सभी साधनों का समीकरण होता है।

रस की उत्पत्ति

यह स्वाभाविकता है कि मनुष्य मनुष्य के सुख से सुखी और उसके दुःख से दुखी होता है। संबंध-विशेष होने पर इसकी मात्रा

में तारतम्य हो सकता है, किन्तु यह असंभव है कि एक मानव के हृदय का प्रभाव दूसरे मानव के हृदय पर न पड़े। जब हम किसी को रोते देखते हैं, तो हमारा दिल पिघल जाता है और हम भी उसके दुःख का अनुभव करने लगते हैं और जब किसी को प्रफुल्ल देखते हैं, तो हम भी प्रफुल्ल हो जाते हैं और उसके हृदय का आनन्द हमारे हृदय में भी प्रवेश करता है। वास्तव में प्राणी-मात्र का हृदय एक है और एक गुप्त तार सदा उसको मिलाये रहता है, जो कवि कविता पढ़ते-पढ़ते स्वयं मुग्ध हो जाता है, वह दूसरों को भी मुग्ध बनाये बिना नहीं छोड़ता। भजनानंदी औरों को भी आनन्दित कर लेता है। एक सरस हृदय से निकले हुए प्रभाव-जनक भाव अन्य हृदय को सरस बनाए बिना नहीं छोड़ते। यह हुई साधारण अवस्था की बात और जब प्रगाढ़ होकर यह अवस्था उच्चतर हो जाती है, तभी रसकी उत्पत्ति होती है। नाट्य-शास्त्रकार महामुनि भरत लिखते हैं—'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।' विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अथवा संचारी भाव किसे कहते हैं?

'लोक में सीता आदिक जो रामचन्द्रादि की रति आदि के उद्बोधक प्रसिद्ध हैं, वे ही यदि काव्य और नाटक में निवेशित किये जावें, तो 'विभाव' कहलाते हैं, क्योंकि वे सहृदय द्रष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादिक भावों को विभावित करते हैं, अर्थात् उन्हें रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं।'

विभाव के दो भेद हैं—पहला आलम्बन और दूसरा उद्दीपन।

रति आदिक स्थायी भावों के आधार नायक-नायिका, 'आलम्बन' और उनके उद्दीप्त करने वाले, चन्द, चाँदनी, मलय-पवन आदि 'उद्दीपन' कहलाते हैं।

रति आदिक स्थायी भावों का जो अनुभव कराते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं।'

'रति आदिक स्थायी भाव में आविर्भूत और तिरोभूत होकर जो निर्वेद आदि भाव अनुकूलता से व्याप्त रहते हैं; उन्हें विशेष रीति से संचरण करते देखकर संचारी कहा जाता है।'

मानव के हृदय में वासना अथवा संस्कार-रूप से अनेक भाव सदा उपस्थित रहते हैं, वे किसी कारण-विशेष द्वारा जिस समय व्यक्त होते हैं, उसी समय उनकी उपस्थिति का पता चलता है। इन भावों में जिन में अधिक स्थिरता और स्थायिता होती है, जो किसी भी काव्य-नाटिकादि में आद्योपान्त उपस्थित रहते हैं, प्रधानता और प्रभावशालिता में औरों से उत्कर्ष रखते हैं, साथ ही जिन में रस-रूप में परिणत होने की शक्ति रहती है, उनको स्थायी भाव कहा जाता है।

"जैसे मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु, वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ होता है।"—भरत मुनि

शृंगार, हास्य, करुण आदि नव रसों के जनक रति, हास, शोक आदि नव स्थायी भाव हैं। इन स्थायी भावों में से कोई एक जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से लोकोत्तर आनन्द रूप में परिणत होकर व्यक्त होता है, तब उसकी 'रस' संज्ञा होती है।

मान लीजिये कि कहीं कोई रामलीला-मण्डली आई है और किसी सुसज्जित स्थान पर रामलीला हो रही है। मधुर स्वर से बाजे बज रहे हैं, कमनीय कण्ठ से रामायण का गान हो रहा है, और अपार जनता वहाँ एकत्र है। इतने में जय-ध्वनि हुई, और एक रमणीय वाटिका में किशोर-वयस्क भगवान् रामचन्द्र अपने प्रिय अनुज के साथ पुष्पचयन करते दिखाई पड़े। फिर कङ्कण-कङ्किणी की ध्वनि हुई, और मंदगति से श्रीमती जनकनन्दनी का सखियों समेत उसमें प्रवेश हुआ। धीरे-धीरे पुष्पवाटिका की लीला का समाँ बँधने लगा और चारों ओर आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा। अनेक भावुक भक्तजनों की तल्लीनता बढ़ गई, और वे परमानन्द पयोधि में ऐसे मग्न हो गये कि सब कुछ भूल गये। कभी वे शिर हिलाते, कभी झूमते, कभी वाह-वाह करते और कभी युगलमूर्त्तियों की छवि को एकटक देखते रह जाते।

इस दृश्य में भावुक भक्तजनों की रति स्थायी भाव है, क्योंकि रसत्व उसको ही प्राप्त है। भगवान् रामचन्द्र और श्रीमती जानकी आलम्बन-विभाव हैं, क्योंकि उनकी रति अर्थात् प्रेम के आधार वे ही हैं, और वे ही उसको विभावित करते हैं। तरंगायमान स्वर-लहरियों का प्रसार, भाव-मय रामायण की चारु चौपाइयों का गान, युगलमूर्त्तियों का शृंगार आदि उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि वे ही रति के उद्दीप्त करने के कारण हैं। भक्तजनों का शिर हिलाना, झूमना आदि अनुभाव हैं, क्योंकि वे ही रति-भाव के बोधक हैं। उत्सुकता और उत्फुल्लता आदि संचारी हैं, जो रति-भाव में समय समय पर संचरण करके उसको उत्तरोत्तर वर्द्धित करते रहते हैं।

स्थायी भाव के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सह-कारी को संचारी भाव कहते हैं।

रसास्वादन प्रकार

आप लोगों को इसका अनुभव होगा कि रामलीला के दृश्यों का सबके हृदय पर समान प्रभाव नहीं पड़ता। कोई उनको देखकर अत्यन्त विमुग्ध होता है, कोई अल्प और कोई नाम-मात्र को। रस का अधिकारी सबका हृदय नहीं होता। जिस में भावुकता नहीं —जिसकी वासना रस-ग्रहणाधिकारिणी नहीं—और जिसकी संस्कृति में रसानुकूल साधनाएँ नहीं; उनके हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती।

समस्त साधनों के उपस्थित होते भी जिसके हृदय का स्थायी-भाव यथातथ्य व्यक्त नहीं होता, उसके हृदय में रस की उत्पत्ति होती ही नहीं। रस की उत्पत्ति तभी होगी जब स्थायीभाव व्यक्त होकर विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के साथ सर्वथा तल्लीन हो जायगा।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी भाव के व्यक्त होने का क्या अर्थ ? दूसरी बात यह कि सब दर्शकों के रतिभाव को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती ?

जितने स्थायी अथवा संचारी भाव हैं, वे वासना-रूप से सदैव मानवमात्र के हृदय में वैसे ही विद्यमान रहते हैं, जैसे पृथ्वी में गंध। कहा गया है कि 'गंधवती पृथ्वी', किन्तु पृथ्वी की गंध, वृष्टि होने पर ही विदित होती है। इसी प्रकार भावोदय भी विशेष कारणों

से होता है। जिस समय कोई भाव हृदय में उदित होकर कार्य-कारी बनता है, उसी समय उसकी प्रतीति अनुभावों द्वारा होती है। आदि में लहरें समुद्र में अव्यक्त अवस्था में रहती हैं बाद को वे व्यक्त होती हैं। इस व्यक्ति का भी अनेक रूप होता है, कभी यह रूप बहुत साधारण होता है, और कभी बहुत व्यापक, विशाल और अचिन्तनीय ! यही अवस्था हृदय और भावों की है। आप हृदय को समुद्र और भावों को लहरें समझें, भावोदय के कारणों को विविध समीर। कैसे अव्यक्त भाव व्यक्त होकर कार्यकारी हो जाता है, तरंगों की स्थिति और उनकी गति-विधि पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट हो जावेगी। अब रही दर्शकों के रति-भाव की बात।

मैं पहले कह आया हूँ कि लीला देखने में सब दर्शकों की तल्लीनता समान नहीं होती, ऐसी अवस्था में सबके हृदयों में रति-भाव का उदय एक रूप में न होगा, उसमें तारतम्य होगा। कहीं वह तरलातितरल, कहीं तरल, कहीं प्रगाढ़ और कहीं उससे भी प्रगाढ़ होगा। कोई बाजों का अनुरागी होता है, कोई गाने का, कोई वेष-भूषा का, कोई स्वाभाविक दृश्यों का, कोई रामायण सुनने का, कोई उसकी भावमय कविताओं का, कोई उसके शब्द-विन्यास का, कोई हाव-भाव-कटाक्ष का, कोई नाच-रंग का और कोई वार्तालाप का। जिसकी जैसी रुचि होगी, उसीके अनुसार उसकी भाव ग्राहिता होगी और उसीके परिमाण से उसकी रति, तरल, प्रगाढ़, अथवा अधिक प्रगाढ़ होगी।

जितने स्थायी भाव हैं, अनेक अवस्थाओं में वे संचारी ही

रहते हैं, विशेष अवस्था में ही उनको रसत्व प्राप्त होता है। रति अथवा अनुराग की भी यही अवस्था है।

जिन दर्शकों के हृदय में रति-भाव संचारी भाव के रूप में प्रकट होगा, उसमें उसको रसता नहीं प्राप्त हो सकती! रसता उसी के हृदय के रतिभाव को प्राप्त होगी, जिसमें उसका आविर्भाव स्थायी रूप में होगा। ऐसे भावुक अल्प होते हैं, यही आचार्यों की सम्मति भी है।

वसंतागम से जो उन्माद कोकिल के हृदय में उत्पन्न होता है, जलदागम से जो प्रगाढ़ प्रेम पपीहा के हृदय में उदय पाता है, उसके अधिकारी अन्य पक्षी नहीं हो सकते। श्रावण के मेघ की उपादेयता क्वार के श्वेत बादलों में नहीं मिलती।

रस का इतिहास

रस-उत्पत्ति के लगभग समस्त साधन दृश्य काव्य में पाये जाते हैं। इस लिये पहले-पहल दृश्य काव्य के आधार से ही रस की ओर विबुधों का विचार आकर्षित हुआ। जिस समय रंगमंच का अभिनय देखकर लोग पुलकित होते थे और तरह-तरह के भावों से उनका हृदय गद्गद होता था, साथ ही जब विचारशील अपने साथ अन्यों को भी आनन्दस्रोत में बहते देखते तो उनको यह विचार होता कि जिस रस की प्राप्ति से दर्शक-मण्डली इस प्रकार विमुग्ध होती है, उस रस का आधार कौन है? और वह कैसे उत्पन्न होता है?

आप लोग जानते हैं कि नाटकों में जनता की दृष्टि को अपनी

और अधिक आकर्षण करने वाले उसके पात्र ही होते हैं। अभिनेताओं में ही यह शक्ति होती है कि अपने अभिनय और कला-कौशल से वह दर्शकों के हृदय में स्थान ग्रहण कर लेवे। अतएव पहले-पहल कुछ लोगों का यही विचार हुआ कि नाटक पात्रों के वेष में आकर जो अभिनेता हमारे सामने तत्सम्बन्धी प्रेमलक अथवा अन्य मनोभावों से सम्पर्क रखने वाले कार्य कलाप करता एवं नाना प्रकार की लीलाओं और हाव-भाव-कटाक्ष में हम लोगों को विमुग्ध बनाता है मूर्तिमान् रस वही है। क्योंकि नाटक-पात्रों के समस्त भावों और व्यापारों का आधार अथवा आलम्बन वही होता है।

अनेक विचारशीलों को यह बात न जँची। उन्होंने सोचा, अभिनेताओं में यों तो कोई आकर्षण होता नहीं, जब वे विशेष वेषभूषा में रंगमंच पर आते हैं और अपनी अंगभंगी, चेष्टाओं और रागरंग से लोगों को विमुग्ध करते हैं तभी दर्शकों को आनन्द प्राप्त होता है। अतएव रस चेष्टाओं और अंगभंगी आदि ही में रहता है, अभिनेताओं में नहीं।

कतिपय भावुकों के मन में यह बात भी न जमी। उन्होंने कहा, "चेष्टाएँ और अंगभंगी आदि अनुभाव किसी मानसिक भाव के परिणात होते हैं, इसीलिये रस रह सकता है तो उसी में रह सकता है, क्योंकि कारण का गुण ही कार्य में होता है।" अतएव उनके मुख से यह बात निकली—"हृदय के व्यभिचारी भाव ही रस-रूप में परिणात होते हैं।"

ज्यों-ज्यों इस विषय में तर्क आगे बढ़ा और विचार होने

लगा, त्यों-त्यों नई-नई धारणाएँ हुई और एक के बाद दूसरे मत प्रकट होने लगे। किसी ने कहा—"विभाव अनुभाव और संचारी भाव तीनों मिलकर इसकी सृष्टि करते हैं, क्योंकि वे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।" किसी ने कहा—"तीनों में जो चमत्कारी होगा, उसी की रस-संज्ञा होगी, अन्यथा किसी की नहीं।" जिस समय यह विवाद चल रहा था, उसी समय महामुनि भरत ने यह व्यवस्था दी कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यह उन्होंने नहीं बतलाया कि इन तीनों का संयोग किसके साथ होने से, परस्पर होने से अथवा किसी अन्य के साथ होने से उन्होंने लिखा है—

"जिस प्रकार गुड़ादिक द्रव्य व्यंजनों और ओषधियों से विविध प्रकार के पानक रस बनते हैं, वैसे ही अनेक भावों से युक्त होकर स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।"

विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों का जब स्थायी-भावों से संयोग होगा, तभी रस की उत्पत्ति होगी। रस किस में और कैसे उत्पन्न होता है, इस बात का निर्णय महामुनि भरत ने अपने उल्लिखित सूत्र में स्पष्टतया कर दिया है। किन्तु इसके अर्थ में ही मतभिन्नता हो गई, इसलिये विवाद कुछ दिन और चला। भट्ट-लोलट्ट, शंकुक, भट्टनायक मम्मट, अभिनवगुप्त, जगन्नाथ आदि अनेक विद्वानों ने इस विषय पर अपने विचार लिखे हैं।

रस का विषय बड़ा वादग्रस्त है, कुछ मर्मज्ञ विद्वानों की धारणा है कि अब तक रस की उचित मीमांसा नहीं हुई। जो हो, किन्तु

मैं यह कहूँगा कि उसका शास्त्रार्थ जिस विस्तृत रूप से ग्रन्थों में लिपिबद्ध है, वह साहित्य की बहुमूल्य और मननशीलता की अद्भुत सम्पत्ति है। मैंने थोड़े में जिन बातों का परिचय दिया है, वह कहाँ तक यथातथ्य है, यह कहना कठिन है। जहाँ शब्दों की ही पकड़ है और बात-बात में तर्कवितर्क होता है, वहाँ निश्चित रूप से किसी सिद्धान्त का संक्षिप्तकरण सुलभ नहीं।

संस्कृत को छोड़कर रस की कल्पना और किसी भाषा में नहीं हुई। अँगरेज़ी, अरबी, फारसी और उर्दू में भाव के ही पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, रस के नहीं। रस का विवेचन जितना ही विमुग्ध-कर है, उतना ही पाण्डित्य पूर्ण।

रस की आनन्दस्वरूपता

"पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वाङ्ग को सुधा-रस-सिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते और ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कारसम्पन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।"

काव्यप्रकाश

यह हुई शृङ्गारादिक रस की परिभाषा। यहाँ प्रश्न यह होता है कि करुण, भयानक आदि रसों में, जिनके स्थायी-भाव शोक, जुगुप्सा और भय आदि हैं, इस परिभाषा की सार्थकता कैसे होगी ?

मानव-समाज के कुछ संस्कार सार्वभौम हैं, किसी देश अथवा किसी जाति का प्राणी क्यों न हो, गुणों का आदर और दुर्गुणों का अनादर अवश्य करेगा। मानस के जो उदात्त और महान् भाव हैं, उसकी पूजा सब जगह सभी करता है, इसी प्रकार उसके जो कुत्सित, घृणित एवं निन्दनीय विचार हैं, उनको हेय, असत और तिरस्कार योग्य कौन नहीं मानता ? सती स्त्री जैसे संसार में वन्द्य है, असती स्त्री वैसे ही अक्षम्य। सदाचारी पुरुष सब स्थानों में देवता समझा जाता है और दुराचारी पुरुष वसुन्धरा भर में दानव।

जितने साहित्यिक ग्रन्थकार और नाटककार होते हैं, सबका उद्देश्य सदादर्श प्रचार होता है। प्रायः अधिकांश ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखे जाते हैं कि उनके द्वारा जाति, देश और समाज का उत्थान हो और उनमें ऐसे भावों का प्रचार हो जिससे उनके सुख शान्ति की वृद्धि हो। लक्ष्य सबका यही होता है, लिखने की प्रणाली में भिन्नता हो सकती है। इस सूत्र से नाटक आदि में भले-बुरे सभी प्रकार के पात्र होते हैं। भले की भलाई और बुरे की बुराई दिखला कर एक का उत्कर्ष और दूसरे का पतन दिखलाया जाता है। इसलिये कि जिसमें दर्शकों के हृदयों में भलाई करने और बुराई न करने की रुचि उत्पन्न हो। अपने उद्देश्य की सिद्धि में जिस ग्रन्थकार अथवा नाटककार की लेखनी जितनी ही विलक्षण होती है, जितनी ही उसमें मार्मिकता होती है, जितनी ही सुन्दरता से वह सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण कर सकती है, उसकी रचना उतनी ही अपूर्व मनोहारिणी और

प्रभावजनक होती है। इसी प्रकार इन भावों का अभिनेता अपने कार्य में जितना ही दक्ष, पटु और भावुक होता है, जितना ही सहृदयता से भावों का व्यंजन कर सकता है, उसका अभिनय उतना ही सफल होता है, और उतना ही वह दर्शकजन के हृदय को आकर्षित कर उसे विमुग्ध और आनन्दित कर सकता है।

मान लीजिये, रंगालय में जनता समवेत है, रामलीला हो रही है। वनवास प्रकरण है, और चारों ओर करुण-रस प्रवाहित है। सामने न तो महाराज दशरथ हैं, न कौशल्या देवी, न कैकेयी, न मंथरा, न भगवान् रामचन्द्र, न श्रीमती जनकनन्दिनी आदि। कुछ अभिनेता इन लोगों का पार्ट लेकर अपना अभिनय तन्मयता से कर रहे हैं। फिर भी सहस्रों वर्ष का बीता दृश्य सामने है और जनता आनन्दमग्न है। जब कैकेयी और मंथरा सामने आती हैं, तो उसका हृदय घृणा से भर जाता है, उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, वह दाँत पीसने लगती है और उसकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। जब कौशल्यादेवी की करुणामयी मूर्ति देखती है, अश्रुविसर्जन करने लगती है; बारम्बार रोती है, फिर भी तृप्त नहीं होती। जब भगवान् रामचन्द्र की मर्यादामयी मूर्ति का अवलोकन करती है, श्रद्धा से भर जाती है, उनकी पितृ भक्ति, धैर्य और त्याग को देख कर उनपर निछावर होती है, कभी कलेजा थामती है, कभी मूर्तिमान् आर्य-गौरव की मन-ही-मन आरती उतारने लगती है। जब भग्नहृदया श्रीमती जानकी देवी दृष्टिगत होती हैं, तब उसकी छाती फटने लगती है।

जब वह उन्हें वन जाने के लिए प्रस्तुत देखती है और उनके मुख की ओर ताकती है, आठ आठ आँसू रोने लगती है। फिर जब भगवान् रामचन्द्र भगवती जानकी को वन की भयंकरता बतलाने लगते हैं, उस समय न जाने कहाँ का भय आकर उसके जी में समा जाता है। उस समय तो वह और भीत होती है जब जनक-नन्दिनी के कुसुमादपि कोमल कलेवर पर दृष्टिपात करती है। किन्तु जनता की ये समस्त दशायें क्या उसे दुःखभागिनी बनाती हैं, नहीं, कदापि नहीं। वरन् प्रत्येक दशाओं में वह विचित्र सुख और आनन्द का अनुभव करती है। क्यों? इसलिये कि जिस संस्कृति से उसका हृदय संस्कृत है, उसके चरितार्थ करने की उसमें बड़ी ही मुग्धकारी सामग्री उसको मिलती है। दूसरी बात यह कि मानसिक भावों को जिस समय जिस रूप में परिणत होना चाहिये, उस समय उसके उस रूप में परिणत होने से ही आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है, अन्यथा चित्त बहुत तंग करता है और यह ज्ञात होने लगता है कि हृदय न जाने किस बोझ से दबा जा रहा है! तीसरी बात यह कि अभिनय करने के समय अभि-नेता अपने पार्ट को जब इस मार्मिकता से करता है कि असली और नकली का भेद प्रायः जाता रहता है, तो उस समय दर्शकों को जो आनन्द होता है, वह भी अपूर्व ही होता है। चाहे यह अभिनय करुण रस का हो, चाहे वीभत्स या भयानक रस का। कारण इसका यह है कि उस समय की अभिनेता की स्वकर्मपटुता और अद्भुत अनुकरणशीलता चुपचाप उनपर विचित्र प्रभाव डाले बिना नहीं रहती।

प्रायः देखा जाता है कि जब रंगमंच पर किसी बड़े अत्याचारी, की यातना आरम्भ होती है, तो यह वीभत्स काण्ड देखकर दर्शक-मण्डली के रोंगटे नहीं खड़े होते और न उनके हृदय में कुछ दुःख ही होता है। क्यों ? इस लिये कि नाटककार की लेखनी के कौशल से अत्याचारियों के प्रति उनके हृदय में इतनी घृणा जाग्रत् रहती है कि उनको उनकी नाटकीय यातना देखकर ही सुख मिलता है।

साहित्यदर्पण

लोक में अथवा संसार के साधारण व्यवहार में साक्षात् सम्बन्ध से विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव के जो कार्य्य कलाप होते हैं, काव्य में उनका चित्रण और नाटकों में उनका अनुकरण मात्र होता है। नित्य लोक में जितनी घटनाएँ होती रहती हैं, उन का सम्बन्ध परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख दोनों से होता है। इन घटनाओं से जिनका सम्बन्ध होता है, उनको सुख-दुःख दोनों प्राप्त होते रहते हैं। यह स्वाभाविकता है, संसार की रचना ही सुख-दुःखमयी है। काव्य और नाटकों की रचना का उद्देश आमोद-प्रमोद और आनन्द प्राप्ति है, साथ ही शिक्षा और देश-सुधार आदि। इसी इष्ट की प्राप्ति के लिये काव्य पढ़े-सुने और नाटक देखे जाते हैं। अनेक अवस्थाओं में चिन्तित और दुःखित होने पर मन बहलाने के लिये भी काव्य और नाटकों की शरण ग्रहण की जाती है। इसलिये काव्य और नाटक आनन्द के ही साधन हैं, और उनसे आनन्द की ही प्राप्ति होती है। लौकिक विभावादि से उनके विभावादि में अन्तर होता है, अतएव वे अलौकिक कहलाते हैं। यहाँ अलौकिक

का अर्थ लोक से सम्बन्ध न रखनेवाला है, अपूर्व अथवा परम विलक्षण नहीं। नाटकों और काव्यों में करुण, वीभत्स और भयानक रसों में भी आनन्द की ही प्राप्ति होती है, दुःखों की नहीं।

रस और ब्रह्मास्वाद

रस का आस्वाद ब्रह्मानन्द के समान होता है, समस्त साहित्य-मर्मज्ञों का यही सिद्धान्त है।

ब्रह्मास्वाद अर्थात् मुक्ति-दशा में ब्रह्ममात्र ही प्रकाशित रहता है और भावों का तिरोभाव हो जाता है। विभावादि जब स्थायी भावों के साथ मिलकर रस-रूप में परिणत होते हैं, उस समय भी केवल रस विकसित रहता है, और सब उसीमें लीन हो जाते हैं, इस लिये वह ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अथवा ब्रह्मास्वाद से उसकी समानता है।

३—नाटकों में देखा जाता है कि रस का उद्रेक होने पर एक काल में सहस्रों मनुष्य मन्त्रमुग्धवत् बन जाते हैं, एक साथ हँसते-रोते और तालियाँ बजाते हैं, आनन्द-ध्वनि करते हैं, शर्म-शर्म या थू-थू कहने लगते हैं और कभी-कभी अपने से बाहर हो जाते हैं। यह रस की अलौकिकता है, क्योंकि साधारणतया लोक में दो एक प्राणिविशेष में ही उसकी उस्पिथति देखी जाती हैं। दूसरी बात यह कि वह अपरिमित है, इसलिये कि अनेक श्रोताओं और दर्शकों के हृदय में वह एक ही समय में उदित और विकसित होता है।

क्या वास्तव में समस्त नाटक देखने और काव्य पढ़ने-सुनने वालों को ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति होती है? जिसकी जैसी वासना

होगी, भावग्रहण की जैसी शक्ति होगी, जिसमें जैसी सहृदयता होगी रस आस्वाद का वह वैसा ही अधिकारी होगा। रस की भी कोटि है, उसका सबसे उच्च कोटि का स्वरूप ब्रह्मानन्द है, उसके अधिकारी सर्वत्र थोड़े हैं।

विभावादिकों की रसव्यंजकता

आप लोग पढ़ते आये हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों का संयोग जब रति आदिक स्थायी भावों से होता है, तभी रस की उत्पत्ति होती है। किन्तु देखा जाता है कि इनमें से किसी एक के द्वारा भी रस उत्पन्न हो जाता है, ऐसी अवस्था में इसकी मीमांसा आवश्यक है।

'विभावादिकों में से दो अथवा एक के उपनिबद्ध होने पर जहाँ प्रकरणादि के कारण दोष का झट से आक्षेप हो जाता है, वहाँ कुछ दोष नहीं होता।' —साहित्यदर्पण

आक्षेप का अर्थ है 'व्यंजनीय रस के अनुकूल शेष (अन्य) दो भावों का भी बोध करा देना।'

कुछ प्रमाण लीजिये—केवल विभाव द्वारा रस की अभिव्यक्ति—

दमदम दमकत दामिनी घहरत नभ घनघोर।
मान करत कत मानिनी मोर मचावत सोर ॥१॥

इस दोहे में उद्दीपन विभाव का वर्णन है; न तो संचारी का है, न अनुभावों का। परन्तु मानिनी का मानयुक्त होना, उसके हृदय का सामर्ष होना सूचित करता है, जो एक संचारी भाव है। जब वह मान दशा में है तो उसकी भौंहें अवश्य चढ़ी होंगी, मुँह

भी निस्सन्देह बिगड़ा होगा, इसलिये अनुभाव भी उसमें मिले और तीनों के आधार से ही रस की सिद्धि हुई।

केवल अनुभाव द्वारा रस विकास—

टपटप टपकत सेदकन अंग अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन मैं काहे नीर लखात ॥२॥

स्वेद बिन्दु का टपकना, अंगों का कम्पित होना, आँखों में जल आना अनुभाव है, और इन्हीं का वर्णन दोहे में है। किन्तु कारण अप्रकट है, किसी विभाव के कारण ही ऐसा हो रहा है, चाहे वह आलम्बन हो अथवा उद्दीपन, अतएव अनुभावों द्वारा ही विभाव की सूचना मिल रही है। किसी श्रम, आवेग, चिन्ता और शंका के द्वारा ही ऐसी दशा होने की सम्भावना है, अतएव संचारी का उद्बोधन भी उससे हो रहा है।

केवल संचारी द्वारा रस का आविर्भाव—

करति सुधारस पानसी रस बस ह्वै सरसाति।
कत गयंदगतिगामिनी उमगति आवति जाति ॥३॥

इस दोहे में हर्ष और औत्सुक्य पूर्ण मात्रा में मौजूद हैं, जो कि संचारी हैं। वे ही उस विभाव की ओर भी संकेत कर रहे हैं जो उनके आधार हैं। उमग-उमग कर आना-जाना अनुभाव के अग्रदूत हैं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के द्वारा ही रस की उत्पत्ति होती है, किसी एक के द्वारा नहीं। जहाँ इनमें से कोई एक या दो होता है, वहाँ आक्षेप द्वारा शेष दो या एक का भी ग्रहण हो जाता है।

रस की कल्पना

रस की कल्पना संस्कृत में हुई है, अँगरेज़ी अथवा अरबी-फ़ारसी में इसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं। वास्तव में परिपुष्ट भाव का ही नाम रस है, इस लिये भाव के पर्यायवाची शब्द ही अन्य भाषाओं में मिलते हैं, अँगरेज़ी में भाव को इमोशन और फ़ारसी में 'जज़बा' कहते हैं। अभिनय अवलोकन के समय जो तन्मयता दर्शकों में देखी जाती है; उसके आधार से ही रस की कल्पना हुई ज्ञात होती है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में ही पहले पहल इसका नियमबद्ध उल्लेख हुआ है। महामुनि भरत कहते हैं कि 'द्रुहिण' नामक किसी आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ।

महामुनि भरत लिखते हैं—रसों के उत्पत्ति के हेतु चार रस हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स।

शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। शृंगार की अनुकृति हास्य का रौद्र का कर्म्म करुण का, वीर का कार्य्य अद्भुत का और वीभत्स दर्शन भयानक का जनक है।

अग्निपुराण में रसों की उत्पत्ति जिस प्रकार दिखलाई गई हैं, वह बहुत ही स्वाभाविक है। ईश्वर रस स्वरूप है, इसलिए उसको रस का आधार कहना, अथवा उसके द्वारा रस का विकास दिखलाना, वास्तविकता पर प्रकाश डालना है। रस क्या है? उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है। आनन्द का यथार्थ उद्रेक ही

रसत्व को प्राप्त होता है। आनन्द का उपभोग अहंभाव ही करता है, क्योंकि अहंभाव ही व्यक्तित्व का आधार है। बिना अहंभाव के व्यक्तित्व अस्तित्व में नहीं आता, अतएव जगदात्मा का आदिम विकार अहंभाव है। यह अहंभाव विश्व में व्याप्त होकर साभिमान हो जाता है, क्योंकि केन्द्रित होने पर उसमें ममत्व आ जाता है। ममत्व से ही रति की उत्पत्ति होती है। जब तक किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में किसी की ममता न होगी, तब तक उससे उसकी रति (प्रीति) न हो सकेगी। ममता ही प्रीति की जननी है। जब किसी कारण से आनन्द-प्रवाह में व्याघात उप-स्थित होता है, तो वह कुछ तीखा हो जाता है, उसमें तीक्ष्णता आ जाती है, उस समय रौद्ररस सामने आता है। रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है, क्रोध और गर्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गर्व होने पर ममत्व व्याघात का सामना करने के लिये उत्साहित होता है, यही वीर रस है। सामना करने के समय ममत्व को यदि अपने अथवा व्याघातकर्ताओं के प्रति कारण विशेष से घृणा उत्पन्न हो जाती है तो वह संकुचित हो जाता है, यही वीभत्स रस है। ये ही चारों प्रधान रस हैं, जिनके आधार से शेष रसों की उत्पत्ति होती है।

अब देखिये, इन चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति कैसे हुई ? महामुनि भरत कहते हैं कि 'शृंगार रस की अनुकृति हास्य है।' अनुकृति का अर्थ है, अनुकरण, अथवा नकल करना। आप लोग जानते हैं, नकल हँसी की जड़ है। किसी की वेशभूषा, चाल-ढाल, बात-चीत आदि की नकल जब विनोद के लिये की

जाती है, तब उस समय हँसी का फव्वारा छूटने लगता है। शृंगार रस की सब बातों की नकल कितनी हास्य विनोदमय होगी, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, हास्य में स्थायिता है। वह आकर्षक और व्यापक भी बहुत है, इसलिये बाद को हास्य भी एक रस माना गया। क्रोध में आकर यदि कोई किसी को प्रहार कर बैठता है, अथवा किसी को लगती किंवा कटु बातें कहता है, तो वह व्यथित अथवा आहत हुए बिना नहीं रहता, उसके हृदय में शोक भी उत्पन्न हो जाता है, और वह अपने दुःखों का वर्णन करके रोने कलपने भी लगता है, यही करुण रस है, जो रौद्ररस का कार्य है। इसी लिये करुण रस की उत्पत्ति रौद्ररस से मानी गई है। इस में भी स्थायिता और व्यापकता है, अतएव धीरे-धीरे वह भी रस में परिगणित हो गया। यह कौन नहीं जानता कि वीर के कार्य्य आश्चर्य्यजनक होते हैं, वीरपुङ्गव अञ्जनीनन्दन ने, महापराक्रमी भीष्मपितामह ने, महाभारत विजयी धनञ्जय ने जो वीरता के कार्य किये हैं वे किसको चकित नहीं बनाते। महाभारत विजयी धनञ्जय ने जो वीरता के कार्य किये हैं वे किसको चकित नहीं बनाते। महाराणा प्रताप, वीरवर नैपोलियन के वीरकर्म भी लोक विश्रुत हैं. और सब लोग इनको अद्‌भुतकर्मा कहते हैं। इसीलिये वीरता के कर्मों को अद्‌भुत रस का जनक माना गया है। रणभूमि को रक्ताक्त देखकर, मज्जा मेदमांस को जहाँ तहाँ खाते-पीते नुचते अवलोकन कर, कटे मुण्डों पर बैठ काकों को आँखें निकालते, गीधों को अँतड़ियाँ खींचते, शृंगालों को लोथ घसीटते और कुत्तों को हड्डियाँ चबाते देख किसके हृदय में भय

का संचार न होगा। इसी लिये वीभत्स दर्शन से भयानक की उत्पत्ति मानी गई है। मेरा विचार है इस विषय में जो सिद्धान्त महामुनि भरत और अग्निपुराण के हैं, वे युक्तिसंगत और उपपत्ति-मूलक हैं।

जैसे पहले चार रस, फिर आठ रस की कल्पना हुई, वैसे ही काल पाकर नवाँ रस निर्वेद भी स्वीकृत हुआ। यद्यपि तर्क वितर्क इस विषय में भी हुए, परन्तु आज कल अधिक सम्मति से नवरस ही माने जाते हैं।

शान्त रस की कल्पना कैसे हुई ? "जिसका स्थायी भाव निर्वेद है नवाँ वही शान्त रस है।

कोई समय था, जब भारतवर्ष में शान्तरस की धारा बह रही थी, आज भी उसका प्रवाह बहुत कुछ सुरक्षित है। आर्य्य-संस्कृति में उसकी बड़ी महत्ता है,और इस जाति के समस्त महान् ग्रन्थ उच्च कंठ से उसका यशोगान कर रहे हैं। मानव-जीवन में त्याग की बड़ी महिमा है और इस में सन्देह नहीं कि सच्ची शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति उसी से होती है। ऐसी अवस्था में उसका रस में न गिना जाना असंभव था। काल पाकर मनीषियों की दृष्टि इधर गई और वह भी रसों में गिना गया। यहाँ तक कि नाटक में भी उसको स्थान मिला और इस रस का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक एक क्षमताशालिनी लेखनी-द्वारा निर्मित होकर संस्कृत-साहित्य में समादरणीय स्थान पा गया।

रस की संख्या नव तक आकर समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी नये-नये रस की कल्पना हो रही है। वास्तविक

बात यह है कि भाव ही उत्कर्ष पाकर रस का स्वरूप धारण करते हैं। काव्य प्रकाश के अनुसार देव भक्ति और वात्सल्य आदि भाव हैं, रस नहीं; किन्तु कुछ आचार्यों ने इन्हें भी रस माना है। कुछ लोग सख्य को रस कहने लगे हैं। अतएव रस की संख्या कहाँ तक पहुँचेगी, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु आजकल सर्वसम्मत नव ही रस हैं।

परस्पर विरोधी रस

कुछ रसों का कुछ रसों के साथ विरोध है। जिस रस का जिस रस से विरोध नहीं है उस रस का उसके साथ अविरोध माना जाता है।

साहित्यदर्पण के अनुसार विरोध है—

(१) शृंगार रस का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक के साथ।

(२) हास्य रस का भयानक और करुण के साथ।

(३) करुण रस का हास्य, और शृंगार के साथ।

(४) रौद्र रस का हास्य, शृंगार और भयानक के साथ।

(५) भयानक रस का शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त के साथ।

(६) वीर रस का भयानक और शान्त के साथ।

(७) शान्त रस का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ।

(८) वीभत्स का शृंगार रस के साथ।

रसों के विरोध और अविरोध के विषय में यद्यपि आचार्यों की सम्मतियों में भिन्नता देखी जाती है, किन्तु मैं यह कहूँगा कि साहित्यदर्पण की सम्मति बहुत मान्य है, साथ ही अधिकतर निर्दोष और पूर्ण है।

रस-परिपाक के लिये आवश्यक है कि दो विरोधी रसों का वर्णन साथ-साथ न किया जावे, क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि या तो वे परस्पर एक दूसरे के रस-विकास के बाधक होते हैं, जिससे रस-आस्वादन का आनन्द कलुषित हो जाता है। अथवा यदि दोनों सबल हुए, तो संघर्ष उपस्थित होने पर दोनों का नाश हो जाता है, जिससे वह उद्देश्य विनष्ट होता है, जिसके लिये उनकी सृष्टि हुई।

रस-विरोध का परिहार

जब दो विरोधी रस एकत्र आ जावें, तो उस समय विरोध-परिहार का उद्योग करना चाहिये, ऐसा हो जाने पर रस-व्याघातकी आशंका दूर हो जाती है। विरोध-परिहार कैसे किया जावे, इस विषय में काव्य प्रकाश की यह सम्मति है—

विरोध का परिहार हो जाता है—

(१) जब दो विरोधी रसों का आधार एक हो तो उनका आधार भिन्न-भिन्न कर देने से।

(२) दो विरोधी रसों के मध्य में एक ऐसे रस को स्थापित कर देने से जो दोनों का अविरोधी हो।

(३) जब विरोधी रस का आधार स्मरण हो।

(४) जब दो विरोधी रसों में साम्य स्थापित कर दिया जावे।

(५) जब दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अंगांगी भाव से अंग बन गये हों।

अब उदाहरण देता हूँ—निम्नलिखित दोहे को देखिये—

बान तानि कै कान लौं खैंचे कठिन कमान।
भभरि भभरि सारे सुभट भागे भीरु समान॥

वीर और भयानक एक दूसरे के विरोधी हैं, इसलिये किसी पद्य में एक साथ नहीं आ सकते, परन्तु इस पद्य में दोनों साथ आये हैं, फिर भी रसप्रवाह में बाधा नहीं पड़ी, कारण यह है कि पहले चरण का आलम्बन (आधार) वीर और दूसरे चरण का आलम्बन (आधार) भयातुर सुभट हैं। यद्यपि दोनों रसों का आधार एक ही पद्य है, किन्तु दोनों के दो आलम्बन हो जाने के कारण वह बाधा दूर हो गई, जो एक ही आलम्बन होने से उपस्थित होती, इस लिये रस का आस्वादन अबाध रहा। पद्य पढ़कर स्वयं आपको इसका अनुभव होगा। रस-परिहार के पहले नियम में यही बात कही गई है।

अब दूसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

का भो जो उर मैं भर्यो भव विराग वर वित्त।
भुवन-विमोहक माधुरी हरति न काको चित्त॥

बड़े-बड़े विरागियों के चित्त को भी अलौकिक लावण्य विचलित कर देता है, यह बात अविदित नहीं, इस दोहे में इसी बात का वर्णन है। पहली पंक्ति में विराग का निरूपण है; दूसरी पंक्ति के

अन्त में माधुरी द्वारा चित्त का हरण होना, शृंगार-गर्भित है, दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु मध्य के 'भुवन-विमोहक' वाक्य ने (जो अद्‌भुत रस की अवतारणा करता है) दोनों के विरोध का परिहार कर दिया है। भवविरागमूलक शान्त रस के उपासक के चित्त को कोई माधुरी कदापि आकर्षित नहीं कर सकती, क्योंकि विराग और आसक्ति परस्पर विरोधी हैं। परन्तु जो अद्‌भुत माधुरी भुवन-विमोहक है, उसका उसके चित्त को हरण कर लेना स्वाभाविक है। इसीलिये उसके द्वारा शान्त और शृंगार के विरोध का परिहार हुआ। दूसरे नियम का यही वक्तव्य था।

अब तीसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

सोहै, रुधिर भरो परो महि में सहि-सहि वार।
कबौं कान्तकर जो हुतौ कलित कंठ को हार॥

किसी वीर रसिकशिरोमणि की भुजा को रुधिर भरी पृथ्वी पर पड़ी देखकर एक सहृदय का यह कथन है। उसकी भुजा को इस बुरी दशा में पाकर वह समय याद आ गया, जब वह सुन्दरी ललनाओं के कमनीय कंठों में पड़ा रहकर किसी अपूर्व गजरे की शोभा धारण करता होगा, अतएव उसका शोक बढ़ गया और उसके हृदय का भाव दोहे के रूप में परिणत हुआ। यहाँ स्पष्ट शृंगार, करुण रस का सहायक है, बाधक नहीं। इसलिये यह स्वीकार किया गया है कि स्मरण किये गये विरोधी रस से विरोध का परिहार हो जाता है।

चौथे नियम का उदाहरण यह है—

काल विमुखता का कहौं मुख न कहत बर बैन।
रस बरसन पावत नहीं रस बरसनपटु नैन ॥

यह एक प्रेमिक की उक्ति है, वह अपनी स्वर्गगता प्रेमिका के शरीर को सामने पड़ा देखकर भग्नहृदय है और प्रेम का उद्रेक होने से, अपने हृदय की वेदना को व्यथामय शब्दों में वर्णन कर रहा है। यहाँ प्रत्यक्ष नायक का प्रेम। (जो शृंगार रस का स्थायी है) शोक का अंग बन गया है क्योंकि वह उसकी वृद्धि कर रहा है। अतएव विरोधी होने पर भी वह रस का बाधक नहीं, वरन वर्द्धक है, इसलिए चौथे नियम का संगत होना स्पष्ट है।

पाँचवें नियम का उदाहरण—

कहा भयो जीते समर लहे कुसुम सम गात।
बात कहत ही मनुज जो काल गाल में जात ॥

इस पद्य के प्रथम चरण में वीर रस और द्वितीय चरण में शृंगार रस विराजमान है। तीसरा-चौथा चरण शान्त रस-गर्भित हैं। वीर और शृंगार परस्पर विरोधी हैं, किन्तु वे दोनों शान्त रस के अंग बन गये हैं। इसलिये उनके पारस्परिक विरोध का परिहार हो गया है। शान्त रस की प्रधानता ही पद्य में दृष्टिगोचर हो रही है, शेष दोनों रसों ने अंगांगीभाव से उसमें अपने को विलीन कर दिया है, क्योंकि वे उसकी पुष्टि कर रहे हैं। इसलिये पंचम नियम की विरोध-परिहार शक्ति स्पष्ट है।

रसाभास

रस जब अनौचित्य से प्रवृत्त होता है, तो उसे रसाभास कहते हैं। रसभंग होने पर ही रसाभास होता है और अनौचित्य ही रसभंग का कारण है। देश, काल, पात्र एवं सामाजिक आचार विचार और व्यवहार के अनुसार अनौचित्य अनेक रूपरूपाय है, फिर भी लक्ष्य की ओर दृष्टि आकर्षण के लिये, उसके कतिपय रूपों का वर्णन मिलता है।

रसाभास के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

रौद्र रसाभास—यथा

> बात कहा बैरीन की को मोसम बलवान।
> बिगरि गये बापहूँ पै हौं बगारि हौं बान॥

गुरुजन पर क्रोध करना उचित नहीं, पिता सर्वप्रधान गुरु है। इस दोहे में कहा गया है कि यदि मैं बिगड़ जाऊँगा, तो बाप को भी बाण मार दूँगा, इससे बढ़कर क्या अनौचित्य होगा, अतएव इसमें प्रत्यक्ष रौद्र रसाभास है।

भयानक रसाभास—जहाँ किसी नरपुंगव अथवा वीर में भय दृष्टिगत होता है, वहाँ भयानक रसाभास होता है—यथा

> सुने असुर की असुरता सुरपुर सकल सकात।
> देखि दसवदन को वदन सुरपति मुख पियरात॥

इस पद्य में वीर शिरोमणि इन्द्र के मुख का रावण के भय से पीत होना वर्णित है, इसलिये इसमें भयानक रसाभास है।

करुण रसाभास—जो करुणा अथवा दया का पात्र नहीं है,

जब उसपर कृपा अथवा उसके विषय में करुणा की जाती है, तब करुणा रसाभास होता है—यथा

चहत अपावन करन सो भवपावन रस सोत।
देख पतित की यातना जो दुख निपतित होत॥

पाप कर्म्म में रत रहने के कारण जिसका पतन हो गया है, उसकी यातना अथवा ताड़ना होने से ही समाज का मंगल हो सकता है, अतएव वह इस योग्य होता है कि उसको यातना हो और उसे दण्ड दिया जावे। ऐसों का शासन होते देखकर जो दुखित होता है, वह दया का अनुचित प्रयोग करता है और उसकी करुणा उचित नहीं होती। इस पद्य में इसी का वर्णन है, अतएव इसमें करुणा रसाभास है।

हास्य रसाभास—जब हास्य रस का आलम्बन वृद्धजन अथवा गुरुजन होते हैं, अर्थात् जब वृद्धजन अथवा गुरुजन की हँसी उड़ाई जाती है, तब हास्य रसाभास होता है—यथा

सेत केसमिस अवनि में पसरी कीरति सेत।
कौन दाँत के गिर गये दाँत सुमुखि पै देत॥

इस पद्य में एक वयोवृद्ध की हँसी उड़ाई गई है। प्राय: देखा जाता है कि वृद्धावस्था में हवस बढ़ जाती है, किसी किसी का मन वृद्धावस्था में भी युवा बना रहता है, वे दाँत गिर जाने पर भी सुमुखियों पर दाँत देते रहते हैं। दाँत गिर जाने पर दाँत देना एक अद्भुत बात है, इसलिये पद्य में कहा गया है कि वृद्ध ने अद्भुत कर्मा बनकर श्वेत दाढ़ी के बहाने पृथ्वी पर अपनी श्वेत कीर्ति फैलाई है। यह घोर व्यंग्य है, जो वृद्ध के चरित्र पर कुत्सित

कटाक्ष करता है। चित्र सच्चा है, किन्तु एक वृद्ध जन का उससे सम्बन्ध होने के कारण उसे पढ़कर चित्त में क्षोभ होता है। वृद्ध जन के साथ ऐसी हँसी उचित भी नहीं होती। अतएव यहाँ हास्य रसाभास है।

वीर रसाभास—जहाँ पर उत्साह औचित्य से गिर जाता है—वहाँ वीर रसाभास होता है—यथा

वीर वह कि बाहत नहीं कबहुँ वधिक सम बान।
बालक अबला वधनिरत वृथा बनत बलवान॥

किसी बालक और अबला वध में उत्साहित जन के प्रति किसी तेजस्वी महात्मा की यह उक्ति है। इसमें कहा गया है कि वीर उत्साह होने पर वधिक के समान निरीह प्राणियों पर बाण नहीं चलाता, क्यों कि यह अनौचित्य है। इसी प्रकार बालक एवं अबला पर हाथ उठाना भी कापुरुषता का परिचायक है, बलवान द्वारा ऐसा अनुचित कार्य नहीं हो सकता। अतएव इस पद्य में स्पष्ट वीर रसाभास है।

वीभत्स रसाभास—किसी कारण से जहाँ वीभत्स में अनौचित्य दृष्टिगत होता है, वहाँ वीभत्स रसाभास होता है—यथा

रुधिर पियत तो कत कँपत सुनत नरक को नाम।
हाड़ चिचोरत रहत तो कहत जात कत राम॥

रुधिर पान करने के समय किसी रक्त पिपासित का नरक का नाम सुनकर कँप जाना उसकी दुर्बलता का सूचक है, अतएव अनौचित्य है। इसी प्रकार हाड़ चिचोरते समय राम-राम कहते जाना भी समुचित नहीं, क्योंकि इससे एक ओर नाम की मर्यादा नष्ट

होती, है, और दूसरी ओर उसकी पाप-प्रवृत्ति की चरितार्थता नहीं होती, अतएव इस पद्य में वीभत्स रसाभास पूर्ण रूप से विराजमान है।

शान्त रसाभास—जहाँ शान्त रस के प्रवाह में अनुचित कार्य-कलाप बाधा उपस्थित करें, वहाँ शान्त रसाभास होगा—यथा—

का विराग भो जो रहे राग रंग में लीन।
रहे रामरत जो न तो का करवा कोपीन॥

विरागभाजन बनकर राग रंग में लीन होना, और करवा-कोपीन धारण कर राम में रत न होना, अनौचित्य है। अतएव यहाँ स्पष्ट शान्त रसाभास है।

अद्भुत रसाभास—जब किसी विषय का वर्णन आश्चर्य की सीमा से आगे बढ़कर असंभवता तक पहुँच जाता है, वहाँ अद्भुत रसाभास होता है—क्योंकि इस प्रकार का वर्णन उचित नहीं होता। यथा—

उछरि अंजनीसुअन ने लीलि लियो ततकाल।
निरखि बाल रविविम्ब को सुमधुर फल सम लाल॥

—सूर्योआत्या हि जगतः।

सूर्य्य जगत् की आत्मा है, वह हिन्दू जाति का आराध्य देव है, उसके विषय में यह लिखना कि उसको नर ने नहीं वरन् वानर ने निगल लिया, कितना बड़ा अनौचित्य है। सूर्य्य के सामने अंजनीनन्दन की सत्ता हिमालय के सामने एक चींटे इतनी भी नहीं, भला वे सूर्य्य को क्या निगलते। जिस कार्य का उल्लेख दोहे में है, वह अद्भुत क्या महान् अद्भुत है, परन्तु प्रलापमात्र है और

अनौचित्य पूर्ण भी, अतएव उसमें प्रत्यक्ष रसाभास है। एक दोहा और देखिये—

> का न करति ललना, हरति पति को ले करवाल।
> कँपि कलंक भय ते बनति कोख लाल को काल॥

एक ललना का कर में करवाल लेकर पतिदेव का वध करना, अपने फूल से कोमल लाल का कलंक भय से नाश कर देना, कितना विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक है। किन्तु दुःख है कि संसार में ऐसा होता है। दोनों कार्यों में अनौचित्य की पराकाष्ठा है, इसलिये पद्य में अद्‌भुत रसाभास मौजूद है।

कुछ अनौचित्य के कारण रसाभास से रस कलुषित हो सकता है किन्तु यह नहीं हो सकता कि उसमें रस का अभाव हो जावे। यह भी समझ लेना चाहिए कि सब जगह अनौचित्य से रसाभास नहीं हो जाता। जहाँ अनौचित्य से किसी रस की पुष्टि होती हो, अथवा जहाँ अनौचित्य का उद्देश चरित्र सुधार कलंक अपनोदन किंवा दोषअवगतकरण हों, वहाँ वह वर्जित नहीं होता। अनौचित्य वही निन्दनीय होता है, जो रस के प्रतिकूल हो। यथा—

> कंचन संचय में निपुन रखत कंचनी मान।
> कैसे बनै महंत नहिं महि में महिमावान॥

किसी धर्माचार्य पर कटाक्ष करना अनौचित्य है, इस पद्य में यही किया गया है, अतएव इसमें रसाभास माना जा सकता है। किन्तु महन्त के चरित्र शोधन के लिये ही, इस पद्य में उनकी हँसी उड़ाई गई है, अतएव यहाँ अनौचित्य हास्य रस को पुष्ट करता है,

उसके प्रतिकूल नहीं है, इसलिये इसमें रसाभास नहीं माना जायगा। इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिये।

शृङ्गार रस का विवेचन

नाट्य-शास्त्र के आचार्य महामुनि भरत ने शृंगार की यह परिभाषा लिखी है—

'जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्वल, एवं दर्शनीय है, वह शृंगार रस कहलाता है।'

जो कुछ संसार में दर्शनीय अर्थात् सुन्दर है, साथ ही जो पवित्र, उत्तम और अव्वल है, उसका जिसमें सरस एवं हृदयग्राही, वर्णन विकास अथवा प्रदर्शन होगा, वह शृंगार रस कहला सकेगा।

शृंगार रस के देवता विष्णुभगवान हैं। जिस रस का जो गुण, स्वभाव और लक्षण होता है, उसका देवता प्रायः उन्हीं गुणों और लक्षणादि का आदर्श होता है, क्योंकि उसीके आधार से उस रस की कल्पना होती है। भगवान् विष्णु में सतोगुण की प्रधानता है, उनकी सहकारिणी वह शक्ति है जो रमा है, जो उनके समान ही सर्वत्र ही रमण करती है, सबका पालन-पोषण करती है, और जो उन्हीं लोकोत्तर के सदृश लोकोत्तरा है। उनका पवित्रतम-पद देश पुण्यसलिला भगवती भागीरथी का उत्पादक है, उस भगवती भागीरथी का, जो त्रिपथगा हैं, स्वर्ग, मर्त्य और पातालविहारणी हैं; जो भगवान शिव के शिरोदेश की मालती माला हैं, और हैं, उस कण्ठगत कालकूट विषमता की शमनकारिणी, जिससे त्रिलोक के भस्मीभूत होने की आशंका उपस्थित हो गई थी। फिर यदि

यह कहा जावे कि लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्वल, और दर्शनीय है, वह श्रृंगार रस है, तो क्या आश्चर्य ! रति श्रृंगार रस की जननी है, इसलिये रति उसका स्थायीभाव है।

हिन्दी शब्दसागर में रति शब्द का यह अर्थ लिखा गया है— प्रीति, प्रेम, अनुराग, मुहब्बत।

बाबू हरिश्चन्द्र कहते हैं—

जाकौ लहि कछु लहन की चाह न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥

कबीर साहब कहते हैं—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥

ऐसी महिमामयी, विश्वव्यापिनी, अनन्त गुणावलम्बिनी रति, जिस श्रृंगार रस का स्थायीभाव है, वह यदि पवित्र, उज्वल, उत्तम एवं दर्शनीय न होगा, तो कौन होगा ; क्योंकि विभाव, अनुभाव और रस संचारी भावों के सहयोग से स्थायीभाव ही रस में परिणत होता है। यदि कहा जावे कि 'स्त्री पुरुष के काम-वासना-मय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम भी तो रति है ! फिर वह इतना प्रशंसनीय कैसे होगा ? तो उत्तर यह है कि काम का वास्तविक स्वरूप न समझने से ऐसा प्रश्न होगा, अतएव मैं काम का यथार्थ स्वरूप समझाने की चेष्टा करूँगा। हृदय की सकामता क्या है ? यह वह मानसिक प्रवृत्ति है, जो संसार के सृजन का हेतु है।

मंगलमय विधाता की यह वह विधि है, जिसमें संसार की सारी पवित्रता, उज्वलता, उत्तमता और दर्शनीयता एकत्रीभूत हैं। इसीसे उसका आधार उत्तम प्रकृति से युक्त शृङ्गार रस है—जो प्रशंसनीय है, और जिसमें किसी कुत्सित भाव को स्थान नहीं।

आर्य-संस्कृति के अनुसार विवाह का बंधन पवित्र बंधन है, और स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक संयत सम्मिलन एक पुनीत विधान।

मंगलमयी सृष्टि के संरक्षण के लिये किस प्रकार स्मृति वचनों के द्वारा मनुष्य जाति को सतर्क किया गया है और कैसे एक धर्म कार्य की ओर प्रवृत्ति दिलाई गई है और कितने रोचक भाव से; इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

एक प्रकार से और इस विषय को देखिये। जिसका शृंगार किया जाता है, वह उत्तम, उज्वल और दर्शनीय बन जाता है। यह शृंगार चाहे प्रकृति करों से किया गया हो, चाहे मनुष्य जाति द्वारा। शरदमयंक, समुज्वल राका रजनी, अनन्त तारकावलि विलसित नीलनभोमण्डल, लोकरंजिनी अरुणरागआरंजिता ऊषा, हिम धवल गिरिशृंगश्रेणी, हरित दल विभूषित पादपावली, अनन्त सौंदर्य निकेतन विकच कुसुम समूह, विचित्र चित्रित विहँग वृन्द और नाना रंग आकार के चमत्कारमय कीट-पतंग किसको विमुग्ध नहीं बनाते, किसके लोचनों को नहीं चुराते और किसके हृदय को आनन्दित नहीं करते। मानव जाति के बनाये संसार के अनेकों मन्दिर, सहस्रों स्तंभ, कितने ही पिरामिड, बहुत से पुल, लाखों पुष्पोद्यान, असंख्य विलास-मन्दिर, करोड़ों बाग-बगीचे, अनेक मूर्तियाँ और खिलौने, इतने साफ़ सुथरे सुन्दर, मनोहर और देखने

योग्य हैं कि उनकी जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। ये समस्त विश्व-विभूतियाँ पवित्र इसलिये हैं कि उनका दर्शन निर्दोष है और वे लोकोत्तर आनन्दसदन हैं। यह शृंगार का माहात्म्य है।

जब इस शृंगार को रसत्व प्राप्त हो जाता है, तो सोना और सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है, उस समय वास्तव में मणि-काञ्चन योग उपस्थित होता है, निर्जीवप्राय सजीव बन जाता है और स्वर्ण कलस रवि-किरण-कान्त !!

क्या इन बातों पर गंभीरता पूर्वक विचार करने पर यह नहीं स्वीकार करना पड़ता कि शृंगार रस की पवित्रता और महत्ताओं के विषय में जो कथन किया गया, वह सत्य और युक्तिसंगत है।

शृङ्गार रस की व्यापकता

संसार में जो पवित्र, उत्तम, उज्वल, और दर्शनीय है, उसमें शृङ्गार रस का विकास है, इस कथन से ही शृङ्गार रस कितना व्यापक है, यह स्पष्ट हो जाता है।

प्राणियों में मनुष्य सर्वप्रधान है। जब उसकी ओर दृष्टि जाती है तब शृङ्गार रस की व्यापकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसमें अधिक पाई जाती है। किसी-किसी प्राणी में शृङ्गार रस का कोई-कोई अंश बहुत ही प्रबल देखा जाता है, परन्तु उसका सर्वांश अथवा अधिकांश जितना मानव-जाति में मिलता है, अन्यों में नहीं। दर्शनीयता जितनी सौंदर्य्य में मिलती है, अन्य गुणों में नहीं। जितना आकर्षण और हृदयग्राहिता रूप में होती है, जितना मोहक वह होता है, दूसरा नहीं।

सुन्दर-सुन्दर चित्र, तरह-तरह के वसन-आभूषण, कोमल

कांत बिछौने, नयनरंजन सामग्री, लोकमोहन आलोक, गगन-चुम्बी प्रासाद, सुसज्जित उद्यान, मनोहर नहरें, अनेक देव दुर्लभ विभव, और बहुत से अपूर्व सुखसाधन, मनुष्य जाति की सौंदर्य-प्रियता से ही प्रसूत हैं। संगीत-साहित्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म आविष्कार, स्वर-ध्वनियों की लालायितकर लहरें, विविध वाद्य-यन्त्रों के मधुर निनाद, नृत्य और नृत्त के नाना विभेद, हास-विलास के क्रिया-कलाप, रूप माधुरी के विविध वर्णन, प्रकृति विभूतियों के मनोहर चित्रण, कवि-हृदय के सरस उद्गार, रसिक जनों के रस प्रसूत सम्बल, सौंदर्य्यप्रेम प्रकरण ही के विविध संस्करण हैं। मानव किस प्रकार इनके द्वारा अपनी सकामता को चरितार्थ करता है, कैसे इनमें अनुरक्त रहकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है, यह अविदित नहीं, प्रत्येक सहृदय इसे जानता है।

वधिक की वीणा में कौन सी वशीकरण विभूति होती है कि उसको श्रवण कर मृग इतना तन्मय हो जाता है कि उसके बाण पर आत्मोत्सर्ग करने में भी संकुचित नहीं होता? कृत्रिम करिणी को देखकर भी गजराज पर कौन-सा जादू हो जाता है कि वह गर्त में ही पतित नहीं होता, उस पराधीनता के बन्धन में भी बँध जाता है, जो उसको आजीवन जीवन के स्वतन्त्रता सुख से वंचित कर देता है? घोड़ियों में कौन-सी आकर्षिणी शक्ति हैं, जिनको अवलोकन करते ही घोड़े आनन्द-विह्वल होकर उछलने-कूदने ही नहीं लगते, अपने उच्च रव से दिशाओं को भी ध्वनित करने लगते हैं? मंथर गति, पीवर ग्रीव, विशाल काय बैलों में

कौन-सी मोहनी रहती है कि उनको घूमते देख गाएँ आपे में नहीं रहतीं और पास पहुँच कर परस्पर लेहन करने में ही आनन्द लाभ करती हैं ?

कुसुमाकर जब कुसुमावलि का माल्य धारण कर दिशाओं को सुरभित करता है, पादपपंक्ति को नवल फल दल संभार से सजाता है, तो कोयल क्यों उन्मादिनी बनती है; क्यों रात-रात भर बोलती है ? क्यों कूक-कूक कर कलेजा निकाले देती है। जब घन गगन मण्डल में घिर जाते हैं, मन्द-मन्द गरजते हैं, कभी रस बरसते हैं, तब पपीहा क्यों पीपी की रट लगाता है, मयूर क्यों मत्त होकर नर्तन करता है, घन-पटल को अवलोकन कर इनको कौन रस मिलता है ? क्या ये सब शृङ्गार रस के ही कौतुक नहीं ?

भृंग फूलों पर गुञ्जता फिरता है, कभी उन पर बैठता है, कभी उनसे रस ग्रहण करता है, और कभी एक पुष्प का रज वहन करके दूसरों तक पहुँचा आता है। तितलियाँ नाचती फिरती हैं, चूम-चूमकर फूलों की बलाएँ लेती हैं। उनसे गले मिलती हैं, अपने रंग में उन्हें और उनके रंग में अपने को रँगती हैं और फिर न जाने कहाँ चक्कर काटती हुई चली जाती हैं। मधुमक्खी चुप-चाप आती है, फूलों के साथ विहार करती हैं, उनसे रस संचय करती हैं।

कविकुलतिलक गोस्वामी तुलसीदास जी ने शृङ्गार रस की व्यापकता का वर्णन जिस प्रकार किया है, वह भी दर्शनीय है—

सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा।

नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई।
जँह अस दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकहि सचेतन करनी।
पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भये काम बस समय बिसारी।
देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बैताला।
इनकी दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी।